MAAH-112N

पुरातत्व : विधि और सिद्धांत
Archaeology: Methods and Theories

परामर्श समिति

प्रो.अखिलेश कुमार सिंह,	कुलपति, उ.प्र.राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,प्रयागराज
कर्नल विनय कुमार	कुलसचिव, उ.प्र.राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,प्रयागराज

पाठयक्रम निर्माण समिति (अध्ययन बोर्ड)

प्रो.सन्तोषा कुमार	निदेशक, समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ.प्र.राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,प्रयागराज
प्रो.जे.एन.पाल	पूर्व आचार्य, प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय,प्रयागराज
प्रो.हर्ष कुमार	आचार्य, प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय,प्रयागराज
प्रो.राजकुमार गुप्ता	आचार्य, प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग प्रो.राजेन्द्र सिंह रज्जू भैया विश्वविद्यलय,प्रयागराज
डॉ.सुनील कुमार	सहायक आचार्य, प्राचीन इतिहास,समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ.प्र.राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,प्रयागराज

लेखक	इकाई
डॉ. संजय कुमार कुशवाहा, सहायक आचार्य, प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय,प्रयागराज	1—14

सम्पादक

प्रो.जे.एन.पाल, पूर्व आचार्य, प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय,प्रयागराज

पाठयक्रम समन्वयक

डॉ.सुनील कुमार, सहायक आचार्य, प्राचीन इतिहास, समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ.प्र.राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

पाठ्यक्रम

इकाई 1 पुरातत्वः अर्थ, परिभाषा और क्षेत्र

इकाई 2 पुरातत्व का सामाजिक विज्ञान एवं प्राकृतिक विज्ञान के साथ संबंध

इकाई 3 भारतीय पुरातत्व का इतिहास और विकास

इकाई 4 पुरातात्विक स्थलों के अन्वेषण की विधियाँ

इकाई 5 पुरातत्व उत्खननः क्षैतिज एवं लम्बवत और सीढ़ीदार उत्खनन

इकाई 6 पुरातात्विक छायांकन, त्रिआयामी रिकॉर्ड, पुरातात्विक वस्तुओं का चित्रांकन

इकाई 7 कालानुक्रम की विधियाँ–सापेक्ष विधि–प्रारूपकी, पुरापुष्पपराग विश्लेषण, फ्लोरीन विश्लेषण

इकाई 8 निरपेक्ष विधि–रेडियो–कार्बन प्रणाली सी–14, पोटैशियम–आर्गन विधि, उष्मादीप्ति तिथि विधि एवं वृक्ष–वलय कालानुक्रम

इकाई 9 स्तरीकरण

इकाई 10 नवीन पुरातत्व

इकाई 11 समुद्री पुरातत्व

इकाई 12 त्रि–काल प्रद्वति

इकाई 13 पुरावशेषों का संरक्षण

इकाई 14 प्रमुख पुरातात्विक पुरास्थल–तक्षशिला, हस्तिनापुर, अहिच्छत्र, अतरंजीखेड़ा, कौशाम्बी, राजघाट

इकाई–1 पुरातत्त्व : अर्थ, परिभाषा एवं क्षेत्र

इकाई की रूपरेखा

1.1 प्रस्तावना

1.2 उद्देश्य

1.3 पुरातत्त्व और पुराविद्

1.4 पुरातत्त्व का अर्थ एवं परिभाषा

1.5 पुरातत्त्व का लक्ष्य

1.5.1 कालक्रम निर्धारण

1.5.2 प्राचीन जीवन पद्धति का पुनर्निर्माण करना

1.5.3 परिवर्तन प्रक्रिया का अध्ययन

1.6 पुरातत्त्व का कार्यक्षेत्र

1.7 पुरातात्त्विकआँकड़ों के प्रकार एवं स्वरूप

1.7.1पुरावस्तु या उपकरण

1.7.2 स्थाई निर्माण

1.7.3जैविक या वातावरण सम्बन्धि प्रमाण

1.7.4पुरास्थल

1.7.5क्षेत्र

1.8सारांश

1.9कुछ उपयोगी पुस्तकें

1.10बोध प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

पुरातत्त्व के माध्यम से सभ्यता के निर्माताओं तथा किसी देश के आदिम वासियों, उनके फैलाव का ज्ञान एवं किसी स्थान विशेष का इतिहास कितनी सदियों पुराना है, पर प्रकाश पड़ता है। ऐसा न अनुश्रूतियों के माध्यम से पता चलता है न साहित्य की पुरानी पोथियों में ही उसका उल्लेख मिलता है। इसका ज्ञान उत्खनन में मिले पुरावशेषों जैसे नर कंकालों को प्रयोगशाला में ले जाकर जाँच से होता है, जहाँ इनकी कार्बन तिथि वैज्ञानिक विधि से निकालकर उनकी तिथि निर्धारित की जाती है। इसी आधार पर किसी पुरास्थल की प्राचीनता का निर्धारण भी किया जाता है एवं यहाँ बसने वाले किस कबीले के लोग थे और उनमें बदलाव कैसे–कैसे आया, इत्यादि।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान सकेंगे–

- पुरातत्त्व के अर्थ और परिभाषा को
- पुरातत्त्व और पुराविद् के संबंध को
- पुरातत्त्व का लक्ष्य एवं क्षेत्र को

1.3 पुरातत्त्व और पुराविद्

पुरातत्त्व के लिए अनुसंधान अथवा खोज का महत्वपूर्ण स्थान है। इसमें भूमि पर पड़ी हुई वस्तुएँ जैसे मिट्टी के बर्तन, नदी द्वारा बहा करके अन्यत्र जमा किये गये पाषाण उपकरण एवं कृत्रिम रूप से भूमि की सतह पर लम्बे समय से मानवीय क्रिया–कलाप के उपरान्त निर्मित टीला, कूड़े के ढ़ेर इत्यादि की खोज की जाती है। उदाहरण के लिए बेबिलोन और मोहनजोदड़ों जैसे समुन्नत नगर एक बार नष्ट हो जाने पर टीलों में परिवर्तित हो गये और सहस्त्रों वर्षों तक अज्ञात ही रहे। इसी तरह शिशुपालगढ़, उड़ीसा से प्राप्त मिट्टी का आवासीय टीला, रंगमहल राजस्थान से प्राप्त मिट्टी का टीला, राजघाट (वाराणसी) , प्रह्लादपुर (चन्दौली) उत्तर प्रदेश से प्राप्त टीला इत्यादि कृत्रिम टीले के उदाहरण हैं। एक यात्री, विद्वान अथवा अन्वेषक को ही इन टीलों को देखने का अवसर प्राप्त हो सकता है। टीलों से प्राप्त प्राचीन वस्तुएँ जैसे सतह पर बिखरे हुए पात्रों के टुकड़े, सिक्के, मनके, उपकरण एवं मूर्तियाँ उसे सर्वप्रथम आकर्षित करती हैं। फिर उनकी प्राचीनता एवं महत्त्व को जानने की जिज्ञासा बढ़ती है और व्यवस्थित अन्वेषण प्रारम्भ होता है। रूचि एवं सावधानी के साथ निरीक्षण करते रहने से न केवल उसे बहुत सी वस्तुएँ प्राप्त होती हैं अपितु कभी–कभी उस स्थान का काल और स्वरूप भी स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार नई खोज की जाती है। नई खोज के लिए जिन प्रारम्भिक गुणों के आवश्यकता होती है वे हैं जिज्ञासा, निरीक्षण शक्ति एवं धैर्य। पुराविद् में यही सब गुण पुरातात्त्विक वस्तुओं के प्रति अभिरुचि और शौक पैदा करते हैं, खोज की प्रक्रिया अग्रसर होती है, नये प्राचीनतम अवशेष प्राप्त होते हैं, जिससे ज्ञान की यह धारा (पुरातत्त्व विषय) अत्यन्त महत्वपूर्ण हो जाती है।

1.4 पुरातत्त्व का अर्थ एवं परिभाषा

पुरातत्त्व की धारा भौतिक अवशेषों के माध्यम से प्रवाहमान होती है। पुरातत्त्व अंग्रेजी भाषा के "Archaeology" का हिन्दी अनुवाद है। यह शब्द यूनानी भाषा के दो शब्दों से मिलकर बना है, 'Archaios' तथा 'Logos'. इसमें Archaios का अर्थ Ancient तथा Logos का अर्थ Knowledge है अर्थात् 'Ancient Knowledge'। इस प्रकार Archaeology का शाब्दिक अर्थ 'प्राचीन ज्ञान'/पुरातन ज्ञान' है। परन्तु आजकल पुरातत्त्व को उसके शाब्दिक अर्थों से कही अधिक विस्तृत अर्थों में देखा जाता है। पुरातत्त्व अतीत से लेकर वर्तमान से 200 वर्ष पहले तक की घटनाओं को जानने ओर समझने का वैज्ञानिक आधार है। हालांकि विभिन्न विद्वानों ने समय–समय पर पुरातत्त्व को अलग–अलग ढंग से परिभाषित करने का प्रयास किया है–

कॉलिन रेनफ्रूएक ब्रिटिश पुराविद् थे, इनका मानना है कि 'पुरातत्त्व मानवशास्त्र के अन्तर्गत एक उपविषय है जिसमें भौतिक अवशेषों के द्वारा मानव इतिहास का अध्ययन किया जाता है'।

गॉर्डन चाइल्डएक आस्ट्रेलियन पुरातत्त्वविद् थे। इनके अनुसार, ''पुरातत्त्व सुस्पष्ट भौतिक अवशेषों के माध्यम से मानवीय क्रिया–कलापों का अध्ययन है।''

ग्राहम क्लार्क जो कि ब्रिटिश पुराविद् थे, इनका मत है कि ''पुरावशेषों के क्रमबद्ध एवं सुव्यवस्थित अध्ययन से मानव अतीत की संरचना ही पुरातत्त्व हैं।''

ग्लिन डेनियलविश्व के प्रसिद्ध वैज्ञानिक और पुराविद् थे। इनका जन्म यूनाइटेड किंगडम में हुआ था। इनके द्वारा ही सर्वप्रथम 'Prehistory' (प्रागैतिहासिक) शब्द का प्रयोग 1851 ई0 में किया गया था। इन्होंने पुरातत्त्व को परिभाषित करते हुए, दो अर्थों में इसके प्रयोग की बात की है–

1. मानव अतीत के भौतिक अवशेषों के अध्ययन की दृष्टि से
2. मानव के प्रागैतिहासिक काल से सम्बन्धित पुरावशेषों के अध्ययन के रूप में

इन दोनों पक्षों को मिलाकर डेनियल ने आगे कहा है कि ''पुरातत्त्व भौतिक सामग्री के आधार पर इतिहास लेखन एवं उसका अध्ययन है।''

ओ0जी0एस0 क्राफोर्ड एक ब्रिटिश पुराविद् थे इन्होंने ब्रिटेन के प्रागैतिहासिक संस्कृति के ऊपर महत्वपूर्ण कार्य किया है। इनका मानना है कि ''पुरातत्त्व विज्ञान की वह शाखा है जिसमें अतीत के गर्भ में विलुप्त मानव संस्कृति का अध्ययन किया जाता है और व्यवहार में इसका प्रभाव एवं उद्देश्य आदिकालीन एवं प्रागैतिहासिक संस्कृतियों का विवरण प्रस्तुत करना है।''

स्टुअर्ट पिग्गट के अनुसार, ''पुरातत्त्व के अन्तर्गत प्रधानतः मानवकृत भौतिक अवशेषों और पुरानिधियों का अध्ययन अतीत के इतिहास को समझने के लिए किया जाता है चाहे ये पाषाणकालीन पत्थर के उपकरण एवं मिट्टी के बर्तनों के टुकड़े हो या मानव निर्मित झोपड़ी के भाग हो अथवा वास्तुकला से सम्बन्धित भव्य कलाकृतियां हो।''

भारतीय विद्वानों में डी0के0 भट्टाचार्या ने पुरातत्त्व को परिभाषित करते हुए कहा है कि ''शिक्षा की शाखा के रूप में पुरातत्त्व के अन्तर्गत इतिहास के उदय काल के पूर्व के मानव समाज और संस्कृति का अध्ययन और अन्वेषण किया है ।'' कुछ इसी तरह से के0एम0 श्रीवास्तव ने भी पुरातत्त्व को परिभाषित करने की कोशिश की है, उनका मानना है कि ''मानव के विभिन्न उपकरणों, औजारों तथा उसकी अन्य उपयोगी सामग्री जो भूमि में एक अन्तराल से प्रकृति एवं जलवायु में सुरक्षित है उनके अध्ययन से मानव के अतीत के विभिन्न चरणों के विकास का वैज्ञानिक अध्ययन ही पुरातत्त्व है।''

प्रख्यात पुराविद् हसमुख धीरजलाल संकालिया ने उल्लेख किया है कि साधारणतः ''पुरातत्त्व को पुरातन अवशेषों का अध्ययन मात्र समझा जाता है। इसमें केवल मानवनिर्मित अवशेषों को ही नहीं इकट्ठा किया जाता है बल्कि उन अवशेषों के ऐतिहासिक सन्दर्भों एवं प्रसंगों का अध्ययन कर इतिहास की पुनर्संरचना भी आता है। संक्षेप में पुरातत्त्व मानवीय इतिहास के आकलन का एक साधन है। यदि

पुरानिधियाँ ऐतिहासिक काल की होगी तो ऐतिहासिक पुरातत्त्व के अन्तर्गत रखा जायेगा और ऐतिहासिक काल के पहले की है तो प्रागैतिहासिक पुरातत्त्व के अन्तर्गत रखी जाती हैं। परन्तु यह विभाजन केवल अफ्रीका, आस्ट्रेलिया एवं पाश्चात्य देशों पर लागु होता है, जहाँ लिपि ज्ञान होने से पूर्व ज्ञान चर्चा की पूर्ण मौखिक परम्परा नहीं थी। जहाँ यद्यपि छठीं शताब्दी से पहले इतिहास लेखन के सन्दर्भ में लिखित साक्ष्य नहीं मिलते परन्तु ज्ञान एवं साहित्य की परम्परा के वेदों और श्रोतों के माध्यम से कम से कम 1500 ई0पू0 तो मानी जाती है। वैदिक साहित्य का भारतीय इतिहास के स्रोत के रूप में महत्वपूर्ण स्थान है।

इसी प्रकार सिन्धु सभ्यता जिसकी लिपि अभी तक पढ़ी नहीं जा सकी है, और इसके समकालीन अन्य ताम्रपाषाणिक संस्कृतियों को Pre-history के अन्तर्गत न रखकर Protohistory (आद्येतिहासिक काल) के अन्तर्गत रखा गया है। सीमित अर्थों में मानव का ऐतिहासिक काल उस समय प्रारम्भ होता है, जब से हमारे ज्ञान का मूल आधार पठनीय लिखित सामग्री होती है। इसके पूर्व का सम्पूर्ण काल प्रागैतिहास के अन्तर्गत आता है, यदि हम यह कहें कि प्रागैतिहास निरक्षर सामाजों का इतिहास है तो अनुचित नहीं होगा। सुविधा की दृष्टि से प्रागैतिहासिक काल को पुनः एक और उपखण्ड में विभाजित करते है जिसे आधैतिहासिक काल के नाम से जानते हैं। आधैतिहासिक काल, ऐतिहासिक तथा प्रागैतिहासिक काल के मध्य की कड़ी है। इस तरह से देखा जाय तो ऐतिहासिक काल के बारे में जानकारी हमें साहित्यिक और पुरातात्विक दोनों श्रोतों से हो जाती है। लेकिन आद्येतिहासिक एवं प्रागैतिहासिक काल, जो कि इतिहास के लम्बे कालखण्ड का नेतृत्व करते हैं, की जानकारी का आधार केवल और केवल पुरातात्विक श्रोत है। ये पुरातात्विक श्रोत भौतिक अवशेषों के रूप में प्राप्त होते हैं, जिनका अध्ययन पुरातत्त्व विषय के अन्तर्गत वैज्ञानिक दृष्टिकोण से किया जाता है। इन भौतिक अवशेषों के प्राप्ति स्थल और स्तर के सन्दर्भ में रखकर देश और काल के परिप्रेक्ष्य में मानव इतिहास की पूनर्संरचना की जाती है।

इस प्रकार सक्षेप में देखा जाय तो ''पुरातत्त्व मानव के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों के विकासात्मक स्वरूप को भौतिक अवशेषों के वैज्ञानिक अध्ययन के माध्यम से एक निश्चित देश–काल और पारिस्थितिकी के सन्दर्भ में स्पष्ट करता है।''

अतः हम कह सकते हैं कि पुरातात्त्विक दृष्टि से सम्पूर्ण परिदृश्य एक दस्तावेज (Document) है और पुरातात्त्विक स्थल उस दस्तावेज का एक भाग है। इस दस्तावेज में मानव के क्रियाकलापों जैसे आवासीय वास्तुशिल्प एवं उनके रहन–सहन आदि से सम्बन्धित तथ्य संकलित रहते हैं। यह एक सुव्यवस्थित तथ्य है कि प्रत्येक सांस्कृतिक जमाव एक ऐतिहासिक दस्तावेज है। इसलिए पुरातत्त्वविद् भी सावधानी से उसमें निहित आकड़ों से मानव इतिहास की पुनर्संरचना करता है।

मार्टिमर व्हीलर महोदय का मानना है कि बिना सोचे–समझे किया हुआ उत्खनन गर्तों और खाइयों की दुर्व्यवस्था के लिए उत्तरदायी है। पुरातत्त्व के दो स्पष्ट पक्ष है– एक क्रियात्मक तथा दूसरा विवेचनात्मक। क्रियात्मक पक्ष के अन्तर्गत क्षेत्रीय पुरातत्त्व एवं सम्पूर्ण पुरातात्त्विक प्रणालियाँ आती है। इनके द्वारा पुरातात्त्विक सामग्री को संकलित करते हैं इसके लिए सर्वेक्षण और उत्खनन की प्रक्रिया अपनाई जाती है। सामग्रियों को संकलित कर लेने के बाद पुरातत्त्व के दूसरे पक्ष अर्थात विवेचनात्मक प्रक्रिया का प्रारम्भ होता है। पुरातत्त्ववेत्ता की यह भूमिका किसी भी प्रकार से इतिहासकार की भूमिका से कम महत्वपूर्ण नहीं है।

विवेचन की यह प्रक्रिया पूर्णतः वैज्ञानिक पद्धतियों पर आधारित होती है इसलिए यहाँ पर व्यक्तिगत मान्यताओं के लिए अधिक स्थान नही होता है। सर्वेक्षण एवं उत्खनन के माध्यम से प्राप्त पुरातात्त्विक सामग्रियों में मृदभाण्ड के टुकड़ों, अस्थिअवशेष, वानस्पतिक अवशेष, धात्त्विक अवशेष इत्यादि प्राप्त होते हैं। इनके आकलन एवं विवचेन के लिए पुरातत्त्ववेत्ता को अन्य विषयों से सहायता लेनी पड़ती है ताकि मानवीय इतिहास का निरूपण क्रमबद्ध, सुव्यवस्थित और वस्तुनिष्ठ हो सके।

1.5 पुरातत्त्व का लक्ष्य

परम्परागत रूप से प्राचीन मानव के भौतिक अवशेषों को प्राप्त करने, उनका विश्लेषण एवं व्याख्या करने को पुरातत्त्व का लक्ष्य समझा जाता था परन्तु आज पुरातत्त्व का क्षेत्र कहीं अधिक व्यापक हो गया है इसके अन्तर्गत भौतिक, सांस्कृतिक एवं मानवीय व्यवहार के विभिन्न पक्षों का अध्ययन समाहित हो गया है। वर्तमान समय में मनुष्य के भौतिक सामग्रियों का मानवशास्त्री विधियों से अध्ययन किया जाता है। इसके तीन उद्देश्य होते है जिनका महत्व सभी पुरातत्त्वविदों द्वारा स्वीकार किया जाता है। यद्यपि खोजकर्ता अपने उद्देश्य के अनुसार एक या उनके अधिक लक्ष्यों पर विशेष जोर दे सकता है।

वस्तुतः ये तीनों लक्ष्य एक–दूसरे के पूरक है और एक ही में समाहित है अतः इन लक्ष्यों को पुरातात्विक शोध का आधारभूत कारक माना जाना चाहिए। जिनके बिना कोई भी वैज्ञानिक अध्ययन सम्भव नहीं है। पुरातत्व के प्रमुख्य लक्ष्य निम्न हैं–

1.5.1 कालक्रम निर्धारण(Chronology)

किसी भी संस्कृति का कालक्रम निर्धारण करना पुरातत्त्ववेत्ता का लक्ष्य होता है। बिना कालक्रम के किसी संस्कृति के सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा कलात्मक पक्षों के ज्ञान का कोई विशेष महत्व नहीं है। किसी भी संस्कृति का कालक्रम उसके देश और काल के परिपेक्ष्य में होता है। अतः कालक्रम का निर्धारण करना पुरातत्त्ववेत्ता का लक्ष्य होता है। इसके लिए लम्बवत् उत्खनन की आवश्यकता होती है।

1.5.2 प्राचीन जीवन पद्धति का पूनर्निर्माण करना (Reconstruction)

पुरातत्ववेत्ता का लक्ष्य केवल संस्कृतियों के कालक्रम स्थापित करने से समाप्त नहीं हो जाता है वरन् उपलब्ध सामग्रियों के विश्लेषण एवं उनकी व्याख्या के आधार पर प्राचीन जीवन पद्धति, खान–पान एवं आखेट के आधार को उद्घाटित करने का प्रयास किया जाता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए पुरातत्ववेत्ता को क्षैतिज उत्खनन का सहारा लेना पड़ता है।

1.5.3 परिवर्तन प्रक्रिया का अध्ययन (Explanation)

कुछ वर्षों तक पुरातत्त्ववेत्ता का कार्य साधारण तथा उपरोक्त दो लक्ष्यों तक ही सीमित होता था। परन्तु मानवशास्त्री पुरातत्त्व के व्यापक हो जाने से आज पुरातत्त्व के अन्तर्गत संस्कृतियों के परिवर्तन प्रक्रिया के अध्ययन को पुरातत्त्व का एक महत्वपूर्ण लक्ष्य माना जाता है। यह नवीन पुरातत्त्व का विशेष अंग है।

आज के सन्दर्भ में पुरातत्त्ववेत्ता यह जानने का प्रयत्न करता है कि एक ही काल में एक समाज विशेष किन परिस्थितयों या कारकों के कारण विकसित हुआ और कोई प्रथा विशेष एवं संस्कार किन कारणों से व कैसे एक समाज विशेष में विकसित हुई। सांस्कृतिक परिवर्तन की प्रक्रिया एवं उनका दूसरे संस्कृतियों के सन्दर्भ में कई प्रश्न उठ खड़े होते है। जिनमें कुछ प्रश्न आन्तरिक होते है जैसे– सामाजिक नियंत्रण आदि और कुछ प्रश्न बाह्य कारकों से सम्बन्धित होते है, जैसे– उपजाऊ जमीन, जलवायु आदि। पुरातत्त्ववेत्ता या इतिहासकार इस प्रक्रिया का अध्ययन अपने–अपने शोध परिकल्पनाओं एवं योजनाओं के आधार पर करता है। प्राचीन समाज के परिवर्तन प्रक्रिया को समझने के लिए पुरातत्त्ववेत्ता और मानवशास्त्री वर्तमान काल के अधिष्ठित समाज जैसे आदिवासियों का अध्ययन पुरातत्त्व के लिए करता है। इस विधा को Ethno -Archaeology कहा जाता है। इस तरह से पुरातत्त्ववेत्ता उपलब्ध अवशेषों के आधार पर मॉडल बनाकर विभिन्न प्रकार के प्रयोगों द्वारा परिवर्तन प्रक्रिया को समझने का प्रयत्न करता है। इस विधा को Experimental Archaeology कहा जाता है।

1.6 पुरातत्त्व का कार्यक्षेत्र

पुरातत्त्व के अन्तर्गत मानव उत्पत्ति से लेकर वर्तमान काल के विभिन्न पक्षों का अध्ययन किया जाता है। इस अध्ययन के अन्तर्गत 35 से 45 लाख वर्ष प्राचीन मानवीय जीवश्मों की व्याख्या से पुरातत्त्व का अध्ययन शुरू होता है। पुरातात्त्विक अवशेषों की दृष्टि से इथोपियाके हॉडर,तंजानिया ओल्डुवाई गार्जऔर लाइकोनी तथा केन्या के पूर्वी तुर्काना एवं पूर्वी अफ्रीका के कुछ स्थल प्राचीनतम है। इन स्थलों में दो पैरों पर खड़े होने वाले मानव (Bipadial)जैसे आदिमानव के प्रमाण मिले हैं। यहाँ तक की लाइकोनी से 36 लाख वर्ष पुराने मानव के पैरों के निशान प्राप्त हुए है। साथ ही साथ कुछ स्थलों पर साधारण पाषाण उपकरणों के प्रमाण मिले है। पुरातात्त्विक साक्ष्य से हमें यह भी प्रमाण मिलता है कि आज से लगभग 20 से 18 लाख वर्ष पूर्व किस तरह से मानव के आदिकालीन स्वरूप का विस्तार अफ्रीका, एशिया के कुछ देशों में हुआ। आज से दो या डेढ़ लाख वर्ष पूर्व आधुनिक मानव (Homosapiens sapiens) का प्रादुर्भाव अफ्रीका में होने का प्रमाण मिलता है। एशिया व यूरोप के दर्जनों पुरास्थलों से हमें यह भी प्रमाण मिलता है कि किस तरह से इन महाद्वीपों में अन्तिम हिमयुग में

प्राथमिक मानव का विकास होता है, जिनका काल 1 लाख से 150000 वर्ष पूर्व निर्धारित किया गया है। अमेरिकी महाद्वीप में मानव का प्रादुर्भाव केवल 18000 वर्ष पूर्व ही हो पाया।

पुरातात्त्विक अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि कृषि विकास आज से लगभग दस हजार वर्ष पूर्व हो चुका था। प्राचीनतम कृषि एवं पशुपालन का प्रमाण हमें जेरीको से प्राप्त होता है। भारतीय उपमहाद्वीप में भी लहुरादेवा नामक स्थान से लगभग 8500 वर्ष पुर्व के धान की खेती के प्रमाण मिले है। पुरातत्त्व के कार्य क्षेत्र में मानव जीवन से सम्बन्धित सभी कार्य आते हैं। पुरातात्त्विक साक्ष्यों के आधार पर सांस्कृतिक इतिहास की रचना आसानी से किया जा सकता है। इसके लिए पुरातत्त्व को अनेक विषयों से सहायता लेना पड़ता है। किसी भी मानवीय विज्ञान को प्राकृतिक विज्ञान के साथ सम्बन्ध स्थापित करना पड़ता है।

पुरातत्ववेत्ता को अपनी रूचि एवं शोध के आवश्यकतानुसार विभिन्न संस्कृतियों या कालखण्डों के आधार पर विशेषज्ञता अर्जित करनी पड़ती है। जिसके लिए उसे मानविकी के अतिरिक्त अन्य विषय रसायन, भौतिक, जन्तुशास्त्र, वनस्पति, भूगर्भ आदि के विद्वानों से सामंजस्य एवं सहयोग स्थापित करना पड़ता है। आज पुरातत्त्व के अन्तर्गत बहुत सी धाराएँ हो गयी है, जैसे– प्राक् ऐतिहासिक पुरातत्त्व, पुरातात्त्विक इतिहास, ऐतिहासिक पुरातत्त्व इत्यादि।

1.7 पुरातात्त्विक आँकड़ों के प्रकार एवं स्वरूप

किसी पुरातात्त्विक स्थल पर विभिन्न प्रकार के अवशेष प्राप्त होते है ये अवशेष मूलतः प्राचीन संस्कृतियों के द्वारा छोड़े गये कूड़े–कचड़े के रूप में होता है। कुछ अपवादों को छोड़ दिया जाय तो अधिकतर प्रमाण प्राचीन भग्नावशेष मूलतया प्राचीन खण्डहर के रूप में मिलते है। विशेष प्रयोजन से बनाई गयी इमारतें जैसे– पिरामिड, ताजमहल, कुतुबमीनार, बहुत से मन्दिर आदि का जीवनकाल लम्बा होता है, जिन्हें परवर्ती संस्कृतियों के लोगों ने विशेष

कारणों से बचा कर रखा है। इस तरह की इमारतें पुरातात्त्विक साक्ष्य के रूप में प्रयोग किया जाता है। पुरातात्त्विक तथ्यों का वर्गीकरण निम्न रूप से किया जाता है –

1.7.1 पुरावस्तु या उपकरण

इसके अन्तर्गत वे प्रमाण आते हैं जो मानव निर्मित या रूपान्तरित होती है जो पुरास्थल से उठाने योग्य होती है। जैसे– मिट्टी के बर्तन, हड्डी या हाथी दाँत के उपकरण इत्यादि।

1.7.2 स्थाई निर्माण

इसके अन्तर्गत वे प्रमाण आते हैं, जो मानव के उपयोग के लिए बनाये गये हेाते है, जिन्हें पुरास्थल से नष्ट किये बिना उठाना सम्भव नहीं, इसके अन्तर्गत कब्र, शवाघान, मकान, चूल्हे आदि।

1.7.3 जैविक या वातावरण सम्बन्धि प्रमाण

इसके अन्तर्गत वे प्रमाण आते है, जिन्हें तत्कालिक मानव न तो निर्मित करता है न तो रूपान्तरित करता है, परन्तु उनका संस्कृतियों से गहरा सम्बन्ध होता है। इन प्रमाणों से तत्कालीन जीवन शैली के बारे में महत्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त होती है, जैसे– हड्डी, अवसाद, वनस्पतियाँ, परागकण इत्यादि।

1.7.4 पुरास्थल

पुरास्थल उसे कहते है जहाँ उपर्युक्त तीनों प्रमाण मिले। पुरास्थल वह स्थान है जहाँ प्राचीन मानव के बसावट और गतिविधियों के प्रमाण है, जैसे– राजघाट, हड़प्पा, मोहनजोदड़ो इत्यादि।

1.7.5 क्षेत्र

पुरातात्त्विक तथ्यों का ऐसा सबसे बड़ा समूह जिसे भौगोलिक रूप में परिभाषित किया जा सके, जिन्हें परिभाषित करने का आधार भौगोलिक स्थिति के अतिरिक्त, पारिस्थितिकी और सांस्कृतिक होता है, इन क्षेत्र के आधार पर पुरातत्त्ववेत्ता एक विस्तृत क्षेत्र के प्राचीन इतिहास की व्याख्या करने का प्रयत्न करता है, जैसे– गंगा घाटी, सिन्धु घाटी, पश्चिमी घाट इत्यादि।

1.8 सारांश

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण के आधार पर देखा जाए तो पुरातत्त्व का अर्थ पुरातन ज्ञान है। इस पुरातन ज्ञान को प्राप्त करने के लिए पुरातत्त्वविद् वैज्ञानिक विधि द्वारा पुरावशेषों का अध्ययन एवं आकलन करता है। पुरावशेषों के अध्ययन के उपरांत मानवीय इतिहास की पुनर्संरचना करना पुरातत्त्व का परम लक्ष्य है। इसमें काल निर्धारण, प्राचीन जीवन पद्धति की रचना करना एवं परिवर्तन की प्रक्रिया को समझना आवश्यक होता है। पुरातत्त्व का क्षेत्र मानवीय इतिहास की संरचना के साथ साथ पर्यावरणीय और जलवायु परिवर्तन एवं जीवों के इतिहास एवं विकास की प्रक्रिया को समझना भी है। इन सभी को समझने के क्रम में पुरावशेष एवं पुरास्थल महत्वपूर्ण होते हैं।

1.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. अग्रवाल, डी0पी0 .1984. *द आर्कियोलॉजी ऑफ इण्डिया.* सेलेक्ट बुक सर्विस सिन्डीकेटः नई दिल्ली।
2. सर मॉर्टिमर व्हीलर, 1990 'पृथ्वी से पुरातत्त्व' हिन्दी माध्यम निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय।
3. एच0 डी0 सांकलिया,1969. पुरातत्त्व परिचय', डेक्कन कालेज, पूना।
4. के0 राजन, 2002 'आर्कियोलॉजीः प्रिंसिपल एण्ड मेथड्स,' मनू पाथ्पिक्कम, तंजौर।
5. आर0 के0 वर्मा, 'क्षेत्रीय पुरातत्त्व' इलाहाबाद
6. वी0 के0 पाण्डेय, 2017 'पुरातत्त्व मीमांसा', शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद।
7. जैन, वी0के0 .2006. *प्रीहिस्ट्री एण्ड प्रोटोहिस्ट्री ऑफ इण्डियाः एन अप्रेजल.* डी0के0 प्रिन्टवर्ल्डः न्यू दिल्ली।
8. पाण्डेय, जे0एन0 2008. *पुरातत्त्व विमर्श.* प्राच्य विद्या संस्थानः इलाहाबाद।
9. भट्टाचार्य, डी0के0 2007. *भारतीय प्रागैतिहास की रूपरेखा.* पलका प्रकाशनः दिल्ली।
10. गोयल, श्रीराम. 2008. *प्रागैतिहासिक मानव और संस्कृतियाँ.* विश्वविद्यालय प्रकाशनः वाराणसी।
11. शर्मा, जी0आर0 1985. *भारतीय संस्कृतिः पुरातात्विक आधार, नई दिल्ली* : नेशनल पब्लिशिंग हाउस।
12. जायसवाल, विदुला. 1989. *भारतीय इतिहास का मध्य–प्रस्तर युग.* स्वाती प्रकाशनः दिल्ली।
13. दुबे, अनिल कुमार .2005. *मध्यगंगा घाटी में अधिवास प्रक्रिया* (जौनपुर जनपद के विशेष सन्दर्भ में) इलाहाबादः स्वाभा प्रकाशन।
14. मिश्रा, वी0डी0 1997. *सम ऑसपेक्ट्स ऑफ इण्डियन आर्कियोलाजी.* प्रभात प्रकाशनः इलाहाबाद।

1.10 बोध प्रश्न

- पुरातत्त्व के अर्थ और परिभाषा को विवेचित कीजिए।
- पुरातत्त्व और पुराविद् के संबंध को स्पष्ट कीजिए।
- पुरातत्त्व का लक्ष्य एवं क्षेत्र पर प्रकाश डालिए।

इकाई–2 पुरातत्त्व का सामाजिक एवं प्राकृतिक विज्ञानों से सम्बन्ध

इकाई की रूपरेखा

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्देश्य

2.3 पुरातत्त्वका सामाजिक एवं प्राकृतिक विज्ञानों से सम्बन्ध

2.4 पुरातत्त्व और सहायक अन्य विषय

2.5 मानविकी/सामाजिक विषय से सम्बन्ध

- 2.5.1 पुरातत्त्व तथा इतिहास
- 2.5.2 नृतत्त्व शास्त्र
- 2.5.3 भूगोल
- 2.5.4 समाजशास्त्र

2.5.5 कला

2.6 प्राकृतिक विज्ञान से सम्बन्ध

2.6.1 भौतिक विज्ञान

2.6.2 भू–तत्व विज्ञान

2.6.3 रसायन विज्ञान

2.6.4 जीवाश्म विज्ञान

2.7 सारांश

2.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

2.9 बोध प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

जैसा कि इतिहास का उद्देश्य होता है अतीत का अध्ययन कर वर्तमान में सचेत होकर भविष्य को सुधारना। उसी प्रकार पुरातत्त्व का उद्देश्य होता है भौतिक अवशेषों का अध्ययन कर मानवीय इतिहास की पूनर्संरचना करना। इसके लिए पुरातत्त्ववेत्ता, पुरातात्त्विक अवशेषों का संग्रह विभिन्न प्रकार की सर्वेक्षण एवं उत्खनन की विधियों से करता है। इन पुरावस्तुओं को कालक्रम के विकासात्मक स्वरूप में स्थापित करने के लिए एवं प्राप्त आकाड़ों की व्याख्या के लिए पुराविद मानविकी विज्ञान/सामाजिक विज्ञान और प्राकृतिक विज्ञान का सहारा लेता है क्योंकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, इस रूप में वह सामजिक विषयों से सम्बन्धित होता है और प्राप्त पुरावेशषों के विश्लेषण वैज्ञानिक पद्धति द्वारा प्रयोगशाला में किया जाता है, उस रूप में प्राकृतिक विज्ञानों से सम्बन्ध परिलक्षित होता है।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान सकेंगे–

- पुरातत्त्व के अध्ययन में सहायक अन्य विषय को
- पुरातत्त्व का सामाजिक विज्ञानों से सम्बन्ध को
- पुरातत्त्व प्राकृतिक विज्ञानों से सम्बन्ध को
- नृतत्त्व शास्त्र और पुरातत्त्व के सम्बन्धको

2.3 पुरातत्त्व का सामाजिक एवं प्राकृतिक विज्ञानों से सम्बन्ध

पुरातत्त्व मानव के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों के विकासात्मक स्वरूप को भौतिक अवशेषों के वैज्ञानिक अध्ययन के माध्यम से एक निश्चित देश–काल और पारिस्थितिकी के सन्दर्भ में स्पष्ट कराता है। पुरातात्त्विक दृष्टि से सम्पूर्ण परिदृश्य एक दस्तावेज है और पुरातात्त्विक स्थल उस दस्तावेज का एक भाग है। इस

दस्तावेज में मानव के क्रियाकलापों जैसे आवासीय वास्तुशिल्प एवं उनके रहन–सहन आदि से सम्बन्धित तथ्य संकलित रहते हैं। यह एक सुव्यवस्थित तथ्य है कि प्रत्येक सांस्कृतिक जमाव एक ऐतिहासिक दस्तावेज है। इसलिए पुरातत्त्वविद् भी सावधानी से उसमें निहित आकड़ों से मानव इतिहास की पूनर्संरचना करना है। मार्टिमर व्हीलर महोदय का मानना है कि बिना सोचे–समझे किया हुआ उत्खनन गर्तों और खाइयों की दुर्व्यवस्था के लिए उत्तरदायी है। पुरातत्त्व के दो स्पष्ट पक्ष है– एक क्रियात्मक तथा दूसरा विवेचनात्मक। क्रियात्मक पक्ष के अन्तर्गत क्षेत्रीय पुरातत्त्व एवं सम्पूर्ण पुरातात्त्विक प्रणालियाँ आती हैं। इनके द्वारा पुरातात्त्विक सामग्री को संकलित करते हैं इसके लिए सर्वेक्षण और उत्खनन की प्रक्रिया अपनाई जाती है। सामग्रियों को संकलित कर लेने के बाद पुरातत्त्व के दूसरे पक्ष अर्थात विवेचनात्मक प्रक्रिया का प्रारम्भ होता है। पुरातत्त्ववेत्ता की यह भूमिका किसी भी प्रकार से इतिहासकार की भूमिका से कम महत्वपूर्ण नहीं है।

विवेचन की यह प्रक्रिया पूर्णतः वैज्ञानिक पद्धतियों पर आधारित होती है इसलिए यहाँ पर व्यक्तिगत मान्यताओं के लिए अधिक स्थान नही होता है। सर्वेक्षण एवं उत्खनन के माध्यम से प्राप्त पुरातात्त्विक सामग्रियों में उत्खनन, मृदभाण्ड के टुकड़ों, अस्थिअवशेष, वानस्पतिक अवशेष, धात्विक अवशेष इत्यादि प्राप्त होते हैं। इनके आकलन एवं विवचेन के लए पुरातत्त्ववेत्ता को अन्य विषयों से सहायता लेनी पड़ती है ताकि मानवीय इतिहास का निरूपन क्रमबद्ध , सुव्यवस्थित और वस्तुनिष्ठ हो सके।

2.4 पुरातत्त्व और सहायक अन्य विषय

जैसा कि इतिहास का उद्देश्य होता है अतीत का अध्ययन कर वर्तमान में सचेत होकर भविष्य को सुधारना। उसी प्रकार पुरातत्व का उद्देश्य होता है भौतिक अवशेषों का अध्ययन कर मानवीय इतिहास की पूनर्संरचना करना। इसके लिए पुरातत्त्ववेत्ता, पुरातात्त्विक अवशेषों का संग्रह विभिन्न प्रकार की सर्वेक्षण एवं उत्खनन की विधियों से करता है। इन पुरावस्तुओं को कालक्रम के विकासात्मक स्वरूप में स्थापित करने के लिए एवं प्राप्त आकड़ों की व्याख्या के लिए पुराविद् मानविकी विज्ञान/सामाजिक विज्ञान और प्राकृतिक विज्ञान का सहारा लेता है क्योंकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, इस रूप में वह सामजिक विषयों से सम्बन्धित होता है और प्राप्त पुरावेशषों के विश्लेषण वैज्ञानिक पद्धति द्वारा प्रयोगशाला में किया जाता है। उस रूप में प्राकृतिक विज्ञानों से सम्बन्ध परिलक्षित होता है। इस तरह से पुरातत्त्व मानविकी और प्राकृतिक दोनों विज्ञानों से परस्पर सम्बन्धित है–

2.5 मानविकी/सामाजिक विषय से सम्बन्ध

पुरातत्त्व के द्वारा मानव निर्मित अवशेषों का अध्ययन, मानव के सम्पूर्ण पक्षों को उद्घाटित करने के लिए किया जाता है इसलिए पुरातत्त्व को मानविकी विज्ञान से सम्बन्धित विषयों जैसे इतिहास, भूगोल, नृतत्त्वशास्त्र, समाजशास्त्र, कला से सहायता लेनी पड़ती है, जिसका विवरण निम्नवत् है–

2.5.1 पुरातत्त्व तथा इतिहास

इतिहास और पुरातत्त्व एक दूसरे से घनिष्ट रूप से सम्बन्धित हैं क्योंकि दोनों का उद्देश्य कमोवेश एक ही होता है, मानव के विकास के क्रम में हुए व्यवहारिक एवं सांस्कृतिक बदलावों का अध्ययन करना और अतीत की कालक्रम के अनुसार पूनर्संरचना करना। इतिहास की धारा लिखित साक्ष्य और पुरातात्त्विक साक्ष्य दोनों के माध्यम से आगे बढ़ती है। इतिहास का केवल 0.1 प्रतिशत भाग ही लिखित साक्ष्य के माध्यम से जाना जाता है। इतिहास का एक लम्बा कालखण्ड, मानव के उद्भव से लेकर लेखन कला के प्रचलन तक पुरातत्त्व के माध्यम से ही आगे बढ़ता है। यहाँ यह कहना अनुचित नहीं होगा कि मानव विकास के इतिहास की आधारशिला का निर्माण इसी समय हुआ था। पशुपालन, कृषि, मृदभाण्ड, शिल्पकारी, दस्तकारी, आभूषण निर्माण, भित्ति चित्रकला इत्यादि का अविष्कार इसी काल में हुआ था। इस प्रकार कहा जा सकता है कि पुरातत्त्व के बिना इतिहास के क्रमिक विकास की धारा को सम्यक् रूप से नहीं समझा जा सकता। इतिहास की किसी भी घटना के बारे में यदि साहित्य में वर्णन है तो इस घटना के पुरातात्त्विक प्रमाण भी होने चाहिए। यदि पुरातात्त्विक प्रमाण नहीं मिलते है तो इतिहास की इस घटना की प्रमाणिकता संदेहास्पद लगती है। इसीलिए यह आवश्यक है कि इतिहास और पुरातत्त्व दोनों को साथ लेकर मानवीय विकास और संस्कृति की व्याख्या की जाय। इसी तरह डा0 बी0एन0 पुरी ने पुरातत्त्व और इतिहास के सत्त सम्बन्ध के बारे में विचार व्यक्त किये है कि ''पुराविद् के लिए ऐतिहासिक ज्ञान परमावश्यक है। इतिहासकार के ज्ञान का विकास उत्खनन में प्राप्त भौतिक अवशेषों से होता है। इन दोनों को एक–दूसरे से पृथक नहीं रखा जा सकता। इतिहास पुरातत्त्व की छोटी सहेली है और वे परस्पर निकटतम है''। इससे स्पष्ट है कि मानव इतिहास की धारा प्रारम्भ से पुरातत्त्व के ऊपर आधारित होकर चलती है, आगे जब लेखनकला का प्रचलन होता है तो पुरातात्त्विक और साहित्यिक साक्ष्य दोनों पर आधारित होकर आगे बढ़ती है।

2.5.2 नृतत्त्वशास्त्र (Anthropology)

पुरातत्त्व को परिलिक्षित करने वाले प्रत्येक विद्वान यथा, गार्डन चाइल्ड, ग्राहम क्लार्क, कॉलिन रेनफ्रु, एच0डी0 संकालिया इत्यादि सभी का मानना है कि पुरातत्त्व भौतिक अवशेषों के आधार पर मानवीय क्रियाकलापों का अध्ययन है अर्थात् पुरातत्त्व मानव जीवन के अध्ययन से जुड़ा विषय है। पुरातत्त्व को मानव शास्त्र के अन्तर्गत एक उपविषय भी माना जाता है। पुरातत्त्व का केन्द्रीयकरण पूर्वजों के मानवीय इतिहास पर होता है जबकि नृतत्त्व शास्त्र के अन्तर्गत मानव के भौतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक एवं भाषा आदि से सम्बन्धित ऐतिहासिक पक्षों का अध्ययन किया जाता है। नृतत्त्व शास्त्र को तीन भागों में विभाजित किया गया है यथा भौतिक नृतत्त्व शास्त्र, सांस्कृतिक नृतत्त्व शास्त्र और पुरातत्त्व। नृतत्त्व शास्त्र के इसी पुरातत्त्व का कुछ वर्षों से स्वतंत्र विषय के रूप में विकास हुआ है। विली तथा फिलिप्स ने 1958 में कहा था कि पुरातत्त्व मानव विज्ञान ही है उसके सिवाय कुछ नहीं है। इस प्रकार पुरातत्त्व और मानव शास्त्र एक–दूसरे के इतने घनिष्ठ सम्बन्धित हैं कि उनका विभेदीकरण करना मुश्किल हो जाता है। चूकि नृतत्त्वशास्त्र का अध्ययन मुख्यतः जनजातीय/समुदाय के विषय में होता है जबकि पुरातत्त्व में पुराविद् द्वारा मानव निर्मित निर्जीव सामग्रियों का अध्ययन किया जाता है जिसकी कड़ियाँ विलुप्त हो चुकी है। फिर भी प्राचीन काल की मानव प्रजातियों और उनकी संस्कृति को समझने के लिए पुराविद् उन तथ्यों की अनदेखी नहीं कर सकता जो नृतत्त्व शास्त्रियों द्वारा उसे वर्तमान की विभिन्न प्रजातियों तथा उसकी संस्कृति के विषय में उपलब्ध कराये जाते हैं। विगत कुछ दशकों में नृतत्त्व शास्त्र में एक नयी शाखा का विकास हुआ, जिसे ''नृजाति–पुरातत्त्व'' (Ethno-Archaeology) कहा जाता है। अध्ययन की इस शाखा में आदिम परिपाटी पर वर्तमान में जीवन–यापन कर रहीं जनजाति या समुदाय का अध्ययन किया जाता है, जो प्रागैतिहासिक मानव के जीवन–यापन के विभिन्न आयामों को समझने में पुरातत्त्व को सहायता प्रदान करता है।

2.5.3 भूगोल

भूगोल, पृथ्वी तल पर घटित होने वाली समस्त भौगोलिक घटनाओं का अध्ययन कराता है। जिसमें वातावरण, पारिस्थितिकी, जलवायु, मिट्टी की बनावट, वर्षा, कृषि, जनसंख्या, विवरण, नदी, पहाड़, वन इत्यादि का समावेशन होता है। मानव का जब पृथ्वी पर जन्म हुआ तो वह जलवायु और शारीरिक बनावट के अनुसार उपयुक्त स्थान पर रहना शुरू किया जहाँ उसे जीवन–यापन से सम्बन्धित सभी आवश्यक वस्तुएँ मिल सकें। भौगोलिक परिस्थितियों के अनुसार पुरातन मानव द्वारा किये जाने वाले उद्यम ही परवर्ती मानव संस्कृति और सभ्यता के निर्माण के आधार बने। जब किसी पुरास्थल की खोज की जाती है तो पुराविद् को मानव द्वारा अपने जीवन–यापन के क्रम में प्रयोग की गयी वस्तुएँ, उत्खनन एवं सर्वेक्षण के माध्यम से प्राप्त होती है। इनकी व्याख्या हेतु, पुरास्थल की स्थिति, समकालीन जलवायु, जीव–जन्तु, वनस्पति, नदी, पहाड़, मानव के सन्निवेश एवं जनसंख्या का वितरण इत्यादि का ज्ञान आवश्यक होता है। इसके लिए पुराविद् को भूगोल का ज्ञान नितान्त आवश्यक है।

2.5.4 समाजशास्त्र

समाजशास्त्र, समाज के आचार–व्यवहार, संरचना एवं समाजिक संस्थाओं का अध्ययन कराता है। समाज का स्वरुप समय के साथ कैसे–कैसे बदला, क्या–क्या बदलाव परिलक्षित हुए, इन सभी पहलुओं पर समाज शास्त्र द्वारा प्रकाश पड़ता है। मानव व्यवहार समाजिक परम्पराओं के अनुरुप होता है इसलिए सामाजिक पहलू किसी भी मानव सभ्यता का महत्वपूर्ण अंग होता है। अन्वेषित सभ्यता के सामाजिक

SVEN NILSSON

Swedish archaeologist

(8 March 1787 to 30 November 1883)

1. The Primitive inhabitants of Scandinavia (1868).
2. Scandinavisk fauna (1820-53)

संगठन, वर्ग विभाजन, रितिरिवाजों, एवं प्रथाओं के प्रचलन इत्यादि की व्याख्या पुराविद् तभी कर सकेगा जब उसे उसका समुचित ज्ञान हो। स्वेन निल्सन, जो कि स्वीडिस पुरातत्वविद् थे, इन्होंने चार प्रकार के सामाजिक संरचना की बात की है। यह विभाजन खाद्यन्न के स्रोत एवं अर्थव्यवस्था को आधार बनाकर किया गया है। इनके अनुसार ''समाज का प्रथम चरण

वन्यता/असभ्य (savagery), द्वितिय चरण यायावर/पशुचारण, तृतीय स्थयी कृषि और चतुर्थ चरण सभ्यता का था।'' इस विभाजन के अनुसार देखा जाय तो प्रागैतिहासिक काल का प्रारम्भिक चरण पुरापाषाण काल वन्यता को, मध्यपाषाण काल जो अर्धस्थायी था यायावार/पशुचारण समाज को, नवपाषाण काल स्थायी कृषि को एवं इसके बाद का काल सभ्यता (सिन्धु सभ्यता) को दिखाता है। अन्ततः कहा जा सकता है कि पुराविद् को प्राप्त अवशेषों की व्याख्याा करने के लिए सामाजिक बदलाव के लक्षणों के ज्ञान हेतु समाजशास्त्र का सहयोग अपेक्षित है।

2.5.5 कला

मानव जब अपने अर्न्तनिहित भावों को किसी माध्यम के रुप अभिव्यक्त कर मूर्त रुप प्रदान करता है तो वह कला कहलाती है। मानव जब से पृथ्वी पर अवतरित हुआ है तब से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नित्य कुछ न कुछ नये आविष्कार करता है जैसे उपकरण का निर्माण, मृदभाण्ड का निर्माण, मूर्तियॉ, चित्रकला, भित्तिचित्र इत्यादि। ये कलाकृतियाँ मानव जीवन के रहन–सहन, अर्थव्यवस्था, धर्म इत्यादि पक्षों पर प्रकाश डालती है। इसलिए पुराविद् इन कलात्मक वस्तुओं को भी संग्रह करना शुरु किया था और इन मूर्तियों, चित्रकलाओं, स्तम्भलेखों, भवनों एवं अन्य कलाकृतियों का मूल्यांकन ही पुरातत्त्व था क्योंकि उस समय तक पुरातत्त्व का समुचित विकाश नहीं हो पाया था। जब जनरल कनिंघम की नियुक्ति भारतीय पुरातत्त्व के निर्देशक के रुप मे होती है,

1861–65ई0 तक तथा 1871–85 ई0 तक कनिंघम ने भारत के प्राचीन स्थलों और संस्कृति के विभिन्न पहलुओं को प्रकाश में लाने का अथक प्रयास किया, जिसके लिए भारतीय पुरातत्त्व सदैव ऋणी रहेगा। इसके बाद से पुरातत्त्व का महत्त्व धीरे–धीरे बढ़ता गया और प्रशिक्षित पुराविद्ों द्वारा इन कलात्मक वस्तुओं से इतिहास की व्याख्या करने का नजरिया भी बदलता गया।

2.6 प्राकृतिक विज्ञान से सम्बन्ध

पुरातत्त्ववेत्ता को पुरावशेषों की व्याख्या करने के लिए मानविकी विज्ञान के साथ–साथ प्राकृतिक विज्ञान की सहायता लेनी पड़ती है। पुरावशेषों के सर्वेक्षण के क्रम में बहुत सी ऐसी वैज्ञानिक विधियां है, जिसका प्रयोग सर्वेक्षण कर्ता करता है। इसमें हवाई छायांकन, लौह शलाका विधि, शब्द ध्वनि, चुम्बकीय परीक्षण, मृदा–विश्लेषण, इत्यादि है। सर्वेक्षण एवं उत्खनन से प्राप्त पुरावशेषों का प्रकृति से गहरा सम्बन्ध रहता है। समाग्रीयों के नष्ट होने एवं मृत हो जाने के बाद भी रासायनिक क्रियाएँ निरन्तर घटती रहती है। अतः पुरातात्त्विक सामग्रियों के तिथि निर्धारण के क्रम में वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग किया जाता है। प्रमुख तिथि विधियों में कार्बन–14 तिथि विधि, ऊष्मादीप्ति विधि, पोटैशियम आर्गन, इलेक्ट्रान घूर्णन अनुनाद विधि, युरेनियम श्रृंखला विधि तथा विखण्डन अनुक्रम विधि इत्यादि हैं । तिथि–निर्धारण की इस कार्य पद्धति को सम्पादित करने के लिए पुरातत्त्वविद् प्राकृतिक विज्ञानों से सहायता लेता है, जिनका उल्लेख निम्नवत् है–

2.6.1 भौतिक विज्ञान

पुरातात्त्विक उत्खनन एवं सर्वेक्षण से जो भी पुरावस्तुएँ प्राप्त होती हैं, पुरातत्त्ववेत्ता इन पुरावस्तुओं का कालक्रम प्रयोगशाला में निर्धारित करता है और तिथि निर्धारण कर वस्तु की प्राचीनता को स्पष्ट करता है। यह कार्य भौतिक विज्ञान की सहायता के बिना सम्भव नहीं होता है। भौतिक विज्ञान, विज्ञान की वह शाखा जिसमें द्रव्य, ऊर्जा तथा उनकी अन्य क्रियाओं का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन किया जाता है। हॉलाकि सभी वस्तुएँ द्रव्य और उर्जा से बनी होती है, अतः भौतिकि में सभी

पदार्थो के अध्ययन का समावेश होता है। पुरातात्त्विक उत्खनन से प्राप्त होने वाली सभी वस्तुएँ भी किसी न किसी द्रव्य से मिलकर बनी होती है। पुरावस्तुएँ जितनी प्राचीन होती है,उनमें द्रव्य की मात्रा निरन्तर घटती जाती है। प्रयोगशाला में विद्वानों द्वारा इसी घटने की दर को ज्ञात कर तिथि का निर्धारण किया जाता है। कार्बन 14 तिथि विधि और पोटैशियम आर्गन तिथि विधि का भौतिक विज्ञान सें विशेष सम्बन्ध है। कार्बन 14 तिथि विधि का प्रयोग सर्वप्रथम 1949 ई. में विलियर्ड एफ. लिवी द्वारा किया गया। इसमें किसी पदार्थ में रेडियोधर्मी कार्बन–14 की मात्रा ज्ञात कर तिथि का र्निधारण किया जाता है। रेडियों कार्बन विधि द्वारा हम 40–50 हजार वर्षो पूर्व की तिथि एवं प्रयोग शाला का प्रयोग करके 70–80 हजार वर्षो तक की तिथि का निर्धारण कर सकते है। पोटैशियम आर्गन विधि ($k40 / A40$) द्वारा पुराविद् ज्वालामुखी के लावे के साथ प्रतिवेदित कई लाख वर्षो के प्राचीन पुरावशेषों का अध्ययन सुगमता से कर सकता है। उष्मादिप्ति तिथि विधि द्वारा मिट्टी के र्बतनों की प्राचीनता ज्ञात की जाती है। भौतिक विज्ञान की सहायता से ज्ञात तिथि सौर वर्षो में प्राप्त होती है, जो स्तरीकृत पुरावशेषों के महत्व को अत्यधिक बढ़ा देती है। कहा जा सकता है कि पुरातत्त्ववेता को निरपेक्ष तिथि निर्धारण के लिए भौतिक विज्ञान का आश्रय लेना पड़ता है।

2.6.2 भू–तत्व विज्ञान

भू–तत्व विज्ञान, प्राकृतिक विज्ञान का वह भाग है, जिसमें पृथ्वी की बनावट एवं आन्तरिक स्तरों का अध्ययन किया जाता है। भूतत्त्व विज्ञान में 'Strata' शब्द का प्रयोग हुआ है। जिसका हिन्दी अनुवाद 'स्तर' होता है। इन्ही स्तरों के अध्ययन के लिए भूगर्भ शास्त्र में *'स्तरीकरण'* के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। स्तरीकरण के सिद्धान्त का उपयोग ब्रिटेन के भूगर्भशास्त्री चार्ल्स लॉयल ने सन् 1850–53ई0 में किया था, जिसे पुरातत्त्व के अध्ययन के लिए उपयोगी समझा गया। पुरातत्त्व का सबसे महत्वपुर्ण अंग पुरातात्त्विक स्तरीकरण है। पुरातत्त्व की सम्पूर्ण प्रक्रिया स्तरीकरण के सिद्धान्त पर आधारित है, जिसका मूल आधार अध्यारोपण, एकरुपतावादतथा अनुक्रम के सिद्धान्तों पर आधारित है।

चार्ल्स लॉयल के अध्यारोपण के सिद्धान्त के अर्न्तगत यदि ''पृथ्वी में कोई उथल–पथुल नहीं हुई है तो निम्नतम् वस्तु सबसे प्राचीनहोगीतथा उसके ऊपर स्थित वस्तु बाद की होगी एवं सबसे ऊपरी स्तर से प्राप्त वस्तु सबसे आधुनिक होगी।

पुरातात्त्विक उत्खनन के उपरान्त प्राप्त स्तरों के तिथि–निर्धारण के लिए भी स्तरीकरण का प्रयोग किया जाता है लेकिन यह तिथि सौर वर्षो में प्राप्त न होकर सापेक्ष तिथि होती है। सापेक्ष तिथि विधि का प्रागैतिहासिक संस्कृति के काल निर्धारण में महत्वपूर्ण योगदान है। मानव का उद्भव एवं विकास, पृथ्वी के विकास से सम्बन्धित है, अतः पृथ्वी के स्तरित जमावों में उपलब्ध मानव के पुरावशेषों का तिथि निर्धारण स्तरीकरण के सिद्धान्त के अनुसार करते है। भूतात्त्विक स्तरों के निर्माण की प्रक्रिया निश्चित और नैसर्गिक नियमों के तहत होती है और आज भी उन्ही नियमों के तहत स्तरों के बनने की प्रक्रिया गतिमान है, जिससे स्तरों मे एकरूपतावाद दिखाई देती है। इन स्तरों के अनुक्रम का अध्ययन कर अन्यत्र किसी अन्य पुरास्थल के स्तरों की समानता के आधार पर सापेक्ष तिथि निर्धारित की जाती है।

2.6.3 रसायन विज्ञान

पुरातात्त्विक उत्खनन से प्राप्त सामग्रियों के ऊपर काई एवं जंग लग जाती है जिससे वह अपनी प्राकृतिक अवस्था में नहीं रह पाती है। इन पुरावशेषों के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए परिरक्षण की विशेष आवश्यकता पड़ती है। कुछ पुरावशेषों को साफ पानी से धोने से ही अपने मूल स्वरूप में आ जाती है लेकिन कुछ पुरावशेषों को साफ करने के लिए रासायनिक घोल या रासायनिक लेप की आवश्यकता होती है। ऐसी स्थिति में पुरातत्त्ववेत्ता को रसायन शास्त्र में समान्य ज्ञान की आवश्यकता होती है। इसकी पूर्ति हेतु पुरातत्त्वेवत्ता अपने साथ पुराविद् रसायनज्ञ को भी ले जाता है ताकि इससे उचित परामर्श मिलती रहे। पुराविद् एवं पुरारसायनज्ञ को इस बात का हर सम्भव प्रयास करना चाहिए कि उत्खनन से प्राप्त पुरावशेषों को यथा सम्भव ज्यों का त्यों सुरक्षित रखा जाय। परिरक्षण मे ज्यादा

सावधानी धातु की वस्तुओं के साथ रखनी चाहिए क्योंकि जंग लगने के कारण ये टूटने लगती है। धातु की बनी हुई पुरानिधियों में लोहा, ताँबा, चाँदी, सोना एवं कॉस्य की बनी हुई वस्तुओं को साफ करने के लिए रासायनिक घोल की आवश्यकता पड़ती है, जैसे–ताँबें की वस्तु को, एक भाग टारटरिक अम्ल, एक भाग कास्टिक सोड़ा तथा दस भाग स्वच्छ जल से बने घोल में डुबाकर रखा जाता है। अच्छी तरह साफ कर लेने के बाद विनॉयल एसीटेट के 10 प्रतिशत घोल का विलेयन करना चाहिए। इसी तरह से अन्य धात्विक सामग्रियों को भी साफ करने के लिए अलग–अलग प्रकार के घोल में रखा जाता है जो कि सरायन विज्ञान के सहयोग के बिना सम्भव नही है।

2.6.4 जीवाश्म विज्ञान

जीवाश्म विज्ञान के अन्तर्गत अति प्राचीन जीवाश्मों का अध्ययन किया जाता है। जीव विज्ञान तथा D.N.A. के अध्ययन के द्वारा मानवीय विकाश क्रम को समझने का प्रयास जारी है। अतीत में मानव कैसा दिखाई पड़ता था? एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने का क्या स्वरूप था? इन प्रश्नों के उत्तर के लिए भी कार्य किया जा रहा है। हड्डियों की किसी स्थान पर उपस्थिति से इनके रसोई, कसाईखाना, औजार निर्माण या मृत पशुओं के ढेर के होने का अनुमान लगाया जा सकता है। महदहा पुरास्थल के एक भाग पर बहुत से पशुओं की अधजली एवं खण्डित हड्डियाँ, सींग/श्रृंग तथा दाँत इत्यादि मिले जिसकी वजह से इसको 'वध–स्थल' अथवा 'बूचड़ खाना' कहा गया है। जन्तुओं के

अवशेषों से पर्यावरण के विषय में अनुमान लगाया जा सकता है, जैसे– पुरातात्त्विक स्थल की जलवायु, वनस्पति तथा मौसम नक्षत्रों की जानकारी मिल सकती है। कभी–कभी जन्तुओं की हड्डी की उपस्थिति समुदायों के बीच सम्बन्ध को भी दर्शाती है, जैसे– समुद्री मछलियों की हड्डियों और शीपों को इनामगाँव में चिन्हित किया गया, जबकि यह स्थान समुद्र से 200 किमी0 दूर है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इनका समुद्र के तटवर्ती समुदायों से सम्बन्ध रहा होगा ।

मनुष्य के दांतों की संरचना का अध्ययन कर उसके जीवन–निर्वाह पद्धति और भोज्य निर्माण के तरीके का अनुमान लगाया जा सकता है। मनुष्य की हड्डियों की ट्रेस एलीमेंट एनालिसिस और दांतों के एनामिल का स्कैनिंग इलेक्ट्रान माइक्रोस्कॉपिक (SEM) विश्लेषण के द्वारा यह पता लगाया जा सकता है कि उसका भोजन क्या था और वे किस प्रकार की पोषण सम्बन्धी अपूर्णता के शिकार थे। पुराविद जन्तु सम्बन्धी पुरावशेषों की व्याख्या के लिए पुराप्राणीविद् से और वनस्पति सम्बन्धी साक्ष्यों की व्याख्या के लिए पुरा–वनस्पतिविद् से सहायता लेता है। पुरातत्त्व में भी अब मनुष्य और उसके पर्यावरण के बीच सम्बन्ध को जानने की जिज्ञासा बढ़ती जा रही है। उत्खनन में प्राप्त वनस्पति अवशेषों के अध्ययन से समकालीन समय में किस प्रकार के खाद्यान्न का प्रयोग किया, मनुष्य ने स्वयं को अपने पर्यावरण के साथ किस प्रकार ढालने का प्रयत्न किया तथा उसने किस प्रकार उपलब्ध प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग किया इत्यादि का अनुमान लगाया जा सकता है। निरपेक्ष तिथि निर्धारण में अत्यन्त उपयोगी वृक्ष वलय विश्लेषण में वनस्पति विज्ञान का प्रयोग अत्यन्त महत्वपूर्ण है। पुरातात्विक स्थलों के पर्यावरण में अम्लीयता की अनुपस्थिति की दशा में वहा के वानस्पतिक परागकण सुरक्षित बच जाते है, जिनके विश्लेषण पर पुराविद् को प्रागैतिहासिक वनस्पति के प्रसार और जलवायु का ज्ञान प्राप्त होता है।

विज्ञान की कुछ अन्य शाखाएँ भी है, जिनका प्रयोग पुरातत्त्ववेत्ता द्वारा पुरावशेषों की व्याख्या के लिए किया जाने लगा है जिसमें पुरा–विकृति विज्ञान या पुरा–रोग विज्ञान के द्वारा पुरामानव की

हड्डियों का अध्ययन कर यह पता लगाते है कि इन्हें किस प्रकार के रोग या विकृति थी। मनुष्य की हड्डियों के विश्लेषण से जनसंख्या का आकार, घनत्व, मृत्युदर, प्रजनन क्षमता तथा आयु सीमा का भी अनुमान किया जा सकता है। चूँकि पोषण के आधार पर सामाजिक अवस्था का भी अनुमान लगाया जा सकता है, इसलिए पुरुष एवं महिला की हड्डियों के विद्यमान पोषक तत्वों के विश्लेषण से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि क्या समुदायों के बीच वर्ग विभाजन था या क्या नारी–पुरूष के बीच सामाजिक भेद था? किन्तु उपरोक्त वैज्ञानिक पद्धतियों में विशेष प्रकार की प्रयोगशालाओं, किमती उपकरणों तथा प्रशिक्षित वैज्ञानिकों की आवश्यकता पड़ती है।

2.7 सारांश

इस तरह से देखा जाय तो जैसे–जैसे विज्ञान का विकास हो रहा है वैसे–वैसे नई तकनीकों का उद्‌भव भी हो रहा है, जिसके प्रयोग से मानव के उद्‌भव एवं विकास सम्बन्धित नये–नये तथ्य भी उजागर हो रहे है। पुरातत्त्ववेत्ता इन विज्ञानों से सहायता लेकर 'पुरातत्त्व' विषय को नये आयाम प्रदान कर रहा है। पुरातत्त्व का अध्ययन जितना ही पुष्ट होगा उतना ही अतीत चमत्कृत होगा, लोग अपने अतीत के प्रति जागरूक होगे और पुरावशेषों को संग्रहीत करने की प्रवृत्ति बढ़ेगी, जिससे पुरातत्त्व का भविष्य उज्जवल होगा और कुछ अनछुये एवं अनसुलझे प्रश्नों को प्रकाशित करने की उत्कण्ठा जागृत होगी।

2.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. अग्रवाल, डी0पी0 .1984. *द आर्कियोलॉजी ऑफ इण्डिया.* सेलेक्ट बुक सर्विस सिन्डीकेटः नई दिल्ली।
2. जैन, वी0के0 .2006. *प्रीहिस्ट्री एण्ड प्रोटोहिस्ट्री ऑफ इण्डियाः एन अप्रेजल.* डी0के0 प्रिन्टवर्ल्डः न्यू दिल्ली।
3. सर मॉर्टिमर व्हीलर, 1990 'पृथ्वी से पुरातत्त्व' हिन्दी माध्यम निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय।
4. एच0 डी0 सांकलिया,1969. पुरातत्त्व परिचय', डेक्कन कालेज, पूना।
5. के0 राजन, 2002 'आर्कियोलॉजीः प्रिंसिपल एण्ड मेथड्स,' मनू पाथ्पिक्कम, तंजौर।
6. आर0 के0 वर्मा, 'क्षेत्रीय पुरातत्त्व' इलाहाबाद
7. वी0 के0 पाण्डेय, 2017 'पुरातत्त्व मीमांसा', शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद।
8. पाण्डेय, जे0एन0 2008. *पुरातत्त्व विमर्श.* प्राच्य विद्या संस्थानः इलाहाबाद।
9. शर्मा, जी0आर0 1985. *भारतीय संस्कृतिः पुरातात्विक आधार, नई दिल्ली* : नेशनल पब्लिशिंग हाउस।
10. जायसवाल, विदुला. 1989. *भारतीय इतिहास का मध्य–प्रस्तर युग.* स्वाती प्रकाशनः दिल्ली।
11. मिश्रा, वी0डी0 1997. *सम ऑसपेक्ट्स ऑफ इण्डियन आर्कियोलाजी.* प्रभात प्रकाशनः इलाहाबाद।

2.9 बोध प्रश्न

- पुरातत्त्व के अध्ययन में सहायक अन्य विषय की विवेचना कीजिए।
- पुरातत्व का सामाजिक विज्ञानों से सम्बन्ध को विवेचित कीजिए।
- पुरातत्व का प्राकृतिक विज्ञानों से सम्बन्ध पर प्रकाश डालिए।
- नृतत्त्व शास्त्र और पुरातत्त्व के सम्बन्ध को ब्याख्यायित कीजिए

इकाई–3 भारतीय पुरातत्त्व का इतिहास एवं विकास

इकाई की रूपरेखा

3.1 प्रस्तावना

3.2 उद्देश्य

3.3 भारतीय पुरातत्त्व का इतिहास एवं विकास

3.3.1 जॉन मार्शल

3.3.2 मार्टिमर व्हीलर

3.3.3 स्वातंत्रोत्तर युग

3.4 पुरातात्त्विक सिद्धांत एवंपुरातत्व के नवीन प्रकार

3.4.1 सांस्कृतिक– ऐतिहासिक पुरातत्व

3.5सारांश

3.6कुछ उपयोगी पुस्तकें

3.7 बोध प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

मानव हमेशा से अपनी उत्पत्ति और पृथ्वी की सृष्टि के प्रति जिज्ञासु रहा है। इस सम्बन्ध में विभिन्न देशों और कालों में अंतःसम्बद्ध और विरोधभासी परिकल्पनाएँ भी प्रस्तावित की गयी किन्तु वस्तुतः इन प्रश्नों के वैज्ञानिक समाधान की प्रक्रिया नवजागरण काल से प्रारम्भ हुई। पन्द्रहवी और सोलहवी शताब्दी ईस्वी में इटली, इग्लैंड और फ्रांस में प्राचीन वस्तुओं के संग्रह को विशिष्ट वर्ग द्वारा मान्यता प्राप्त हुई तथा अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में पानियाई का उत्खन्न हुआ। उत्खन्न कार्य की

बहुलता के कारण ही पश्चिमी युरोप के सन्दर्भ में उन्नीशवीं शताब्दी को 'पुरातत्त्व के विकास का युग' नामक संज्ञा से अभिहित किया गया।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान सकेंगे–

- पुरातत्त्व के इतिहास को
- पुरातत्त्व के विकास के विषय में
- पृथ्वी के तृतीयक चरण के विषय में
- 1904 ई0 में 'प्राचीन स्मारक परिरक्षण अधिनियम' विशेषता को

3.3 भारतीय पुरातत्त्व का इतिहास एवं विकास

पृथ्वी की उत्पत्ति के साथ ही छोटे–छोटे जीवों का उद्‌भव भी हुआ, फिर छोटे–छोटे एक लम्बे काल खण्ड के गुजर जाने के बाद नव जीव युग के तृतीयक चरण के प्रारम्भिक अवस्था प्रातिनूतन काल में प्रारम्भिक स्तनधारी जीवों का प्रार्द्‌भाव हुआ। नयी तृतीयक चरण के अंतिम अवस्था, अतिनूतन काल में मानव के पूर्वज जीवों का अस्तित्व था। नवजीव युग के चतुर्थक चरण में मानव का अस्तित्व दिखाई पड़ा, जिनके द्वारा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति एवं जीवन–यापन के लिए नित्य प्रतिदिन कुछ नये उपकरणों, मृदभाण्डों इत्यादि का निर्माण किया गया। सन्तति आगे बढ़ती गयी, नये–नये अविष्कार जीवन को आसान बनाने के लिए होते रहे और वर्तमान तक पहुँच गये। इतने लम्बे समय में जो भी परिवर्तन हुए, उनका अध्ययन पुरावशेषों के माध्यम से पुरातत्त्व विषय अर्न्तगत किया जाता है। मानव हमेशा से अपनी उत्पत्ति और पृथ्वी की सृष्टि के प्रति जिज्ञासु रहा है। इस सम्बन्ध में विभिन्न देशों और कालों में अंतःसम्बद्ध और विरोधाभासी परिकल्पनाएँ भी प्रस्तावित की गयी किन्तु वस्तुतः इन प्रश्नों के वैज्ञानिक समाधान की प्रक्रिया नवजागरण काल से प्रारम्भ हुई। पन्द्रहवी और सोलहवी शताब्दी ईस्वी में इटली, इग्लैंड और फ्रांस में प्राचीन वस्तुओं के संग्रह को विशिष्ट वर्ग द्वारा मान्यता प्राप्त हुई तथा

अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में पानियाई का उत्खन्न हुआ। उत्खन्न कार्य की बहुलता के कारण ही पश्चिमी युरोप के सन्दर्भ में उन्नीशवीं शताब्दी को 'पुरातत्त्व के विकास का युग' नामक संज्ञा से अभिहित किया गया।

भारत में पुरातत्त्व के विकास की गाथा उपनिवेषवादियों के द्वारा अपने प्रशासन के हित को साधने के प्रतिक्रिया के साथ आरम्भ होता है। प्रारम्भ में इनके द्वारा प्राचीन भारतीय ग्रन्थों को समझने के क्रम में अनुवाद किया जाना शुरु किया गया। इसकी शुरुआत 18वीं शताब्दी के उत्तर्राद्ध में जब 1765 ई0 में बंगाल और बिहार में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन आया तो शासकों को हिन्दुओं के उत्तराधिकार की न्याय व्यवस्था करने में कठिनाई का अनुभव हुआ। अतः 1776 ई0 में सबसे अधिक प्रमाणिक माने जाने वाली मनुस्मृति का अंग्रेजी अनुवाद 'ए कोड ऑफ जेन्ट् लॉज' के नाम से कराया गया । डॉ0 सैमुअल जॉनफन ने 30 मार्च, 1774 को पत्र लिखकर भारतवर्ष के शहरों, स्मारकों आदि के अध्ययन पर जोर डाला। इसी सन्दर्भ में 15 जून 1784 ई0 को सर विलियम जोन्स द्वारा कलकत्ता में 'रायल एसियाटिक सोसाइटी' की स्थापना की गयी। जिसका उद्देश्य एशिया महाद्वीप के पुरावशेषों, कलाओं, विज्ञान तथा साहित्यों के इतिहास का अध्ययन करना था। स्वयं सर विलयम जोन्स ने 1789 ई0 में कालीदास रचित नाटक 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' का अंग्रेजी में अनुवाद किया। चार्ल्स विलकिन्स ने 1785 ई0 में प्रसिद्ध धार्मिक ग्रन्थ 'भगवद्गीता' का अंग्रेजी में अनुवाद किया। बंगाल में एसियाटिक सोसाइटी की स्थापना के बाद 1804 एवं 1818 ई0 में बम्बई और मद्रास में एसियाटिक सोसाइटी की स्थापना हुई और 1823 ई0 में लन्दन में एसियाटिक सोसाइटी ऑफ ग्रेट ब्रिटेन की स्थापना हुई। विलियम जोन्स ने यह प्रतिपादित किया कि मूलतः युरोपिय भाषाएँ संस्कृत और ईरानी भाषाओं से बहुत ही मिलती है। इस तथ्य के आविष्कार ने जर्मनी, फ्रांस और रूस आदि यूरोपिय देशों में भारतीय विद्या के अध्ययन में गहरी रुची जगाई। इन विद्वानों में अलेक्जेन्डर हेमिल्टन (फ्रांस) फ्रेडरिक वॉन थ्लेगल, ओटो बोथलिगंक, रूडोल्फ रूथ तथा सबसे महत्वपूर्ण मैक्समूलर का नाम प्रसिद्ध है। मैक्समूलर ने तो

ऋग्वेद के साथ बहुत से संस्कृत धर्मग्रन्थों का अनुवाद किया। इन साहित्यिक ग्रन्थों में रूचि ने पुरातात्त्विक वस्तुओं के अध्ययन के प्रति भी विद्वानों में अभिरूचि को जागृत किया।

रॉयल एसियाटिक सोसाइटी द्वारा किये गये कार्यों को प्रकाशित करने के लिए 'एशियाटिक रिसर्चेज' नामक पत्रिका का प्रकाशन 1788 में किया जाना प्रारम्भ हुआ तथा प्राप्तपुरातात्त्विकसमग्रियों को संग्रहीत करने के लिए सन् 1814 ई0 में संग्रहालय की स्थापना की गई। यूनानी ग्रन्थों में वर्णित सण्ड्रोकोटस को जोन्स महोदय ने 'चन्द्रगुप्त' से तथा पालिब्रोथा का तादात्मय पाटलीपुत्र से स्थापित किया है। जोन्स के समकालीन सहयोगियों जैसे चार्ल्स विलकिन्सन एवं टी0एच0 कोलब्रुक द्वारा गुप्त एवं कुटिल लिपियों के उद्वाचन के साथ–साथ ताजमहल, कुतुबमीनार आदि उत्तर भारतीय मध्ययुगीन स्मारकों, एलोरा, एलीफेन्टा तथा कन्हेरी आदि पश्चिम भातीय प्राचीन कालीन स्मारकों का कलात्मक एवं कल्पनात्मक विवरण प्रस्तुत किया गया। कोलब्रुक के बाद संस्था के अध्यक्ष एच0एच0 विल्सन ने अफगानिस्तान के पुरावशेषों के विषय में अपने अनुसंधानात्मक विवरणों को 'एरियाना एण्टिका' नामक पत्रिका में प्रकाशित किया। इसी क्रम में सन् 1800 ई0 में फ्रान्सिस बुखानन और मार्क्विज वेलेजली मैसूर के पुरावशेषों के सर्वेक्षण के लिए नियुक्त किये गये। सन् 1807 ई0 में बुखानन को फोर्ट विलियम प्रेसीडेन्सी के अधीनस्थ एवं समीपवर्ती क्षेत्रों के भौगोलिक, ऐतिहासिक एवं पुरावशेषों से सम्बन्धित सर्वेक्षण का दायित्व सौंपा गया। दीनाजपुर, रंगपुर, पूर्णिया, भागलपुर, बिहार, शाहाबाद तथा गोरखपुर जिलों का उन्होंने आठ वर्षो में सर्वेक्षण कार्य पूरा किया और 37 जिल्दों में अपने कार्यो का विवरण संस्था को प्रस्तुत किया। पुरातत्त्व सम्बन्धी कार्यों में गतिशीलता तब आयी जब 1833 ई0 में एशियाटिक सोसाइटी के सचिव के रूप में कलकत्ता टकसाल के निकष अधिकारी (Assay Master) जेम्स प्रिंसेप की नियुक्ति हुई।

- सन् 1834–1837 के मध्य जेम्स प्रिंसेप ने प्राचीन भारत की ब्राह्मी लिपि का सफलतापूर्वक उद्वाचन किया और पियदसि (प्रियदर्शी) शब्द को सर्वप्रथम पढ़ा।

- लंका प्रशासनिक सेवा केटर्नर ने प्रियदर्शी का समीकरण बौद्ध साहित्य में उल्लिखित मौर्य सम्राट 'अशोक' के साथ किया।
- जेम्स प्रिंसेपने मुद्राशास्त्री के रूप में भी कार्य किया और प्राचीन स्थलों के सर्वेक्षण में भी रूचि दिखाई थी, लेकिन 40 वर्ष की अल्प आयु में मृत्यु होने के कारण कार्य की गतिशीलता में थोड़ी कमी आया।

जेम्स प्रिंसेपद्वारा ब्राह्मी लिपि के पढ़े जाने के साथ ही भारतीय पुरालिपि का प्रादुर्भाव हुआ। लेकिन प्रिसेंप की असमय मृत्यु के कारण पुरावशेषों के अध्ययन को आगे बढ़ाने का दायित्व जेम्स बर्जेस, जेम्स फर्गुसन,मार्खम किट्टो, एडवर्ड थॉमस, वाल्टर इलियट, कर्नल मिडोज टेलर, आर0जी0 भण्डारकर, डॉ0 भाऊदाजी, राजेन्द्रलाल मिश्र, फ्लीट इत्यादि ने सम्भाला। जेम्स फर्गुसन ने 1827 से 1847 ई0 में भारतीय वास्तुकला से सम्बन्धित स्मारकों का विस्तृत सर्वेक्षण किया। लेकिन पुरातत्त्व की दृष्टि से देखा जाय तो सबसे महत्वपूर्ण योगदान अलेक्जेडर कनिंघम महोदय का है। सन् 1861 भारतीय पुरातत्त्व के इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण वर्ष था क्योंकि इसी वर्ष 'भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण' विभाग की स्थापना तत्कालीन गर्वनर जनरल लार्ड केनिंग के सहयोग से अलेक्जेडर कनिंघम के द्वारा की गयी। भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग के गठन के बाद कनिंघम महोदय को ही 37 वर्ष की अवस्था में पुरातात्त्विक सर्वेयर नियुक्त किया गया। यह विभाग भारत सरकार के संस्कृति मंत्रालय के अधीन कार्य करता है। कनिंघम महोदय ने 1861–65 तथा 1871–85 ई0 तक भारत के प्राचीन स्थलों और संस्कृति के विभिन्न पहलुओं को प्रकाश में लाने का अथक प्रयास किया। इन्होंने अपने सर्वेक्षण का आधार ह्वेनसांग/यानचांग के यात्रा विवरण को बनाया। इसमें वर्णित स्थानों का निरीक्षण कर प्राचीन साहित्य में वर्णित स्थलों का तादात्म्य स्थापित किया। यमुना के बाये तट पर स्थित कोसम के भग्नावशेषों का तादात्म्य इन्होंने वत्स की राजधानी कौशाम्बी से स्थापित किया। यद्यपि वाटर्स और विन्सेन्ट स्मिथ ने इसका खण्डन किया और पढ़ने से ऐसा लगता है, इनके तर्क बहुत ठोस थे, लेकिन काम करने से पुरातत्त्ववेत्ता की दृष्टि विकसित होती हैं वह उनको उपलब्ध नहीं थी।

1951 ई0 में जी0 आर0 शर्मा महोदय ने कौशाम्बी के घोषिताराम का उत्खनन करवाया और यहाँ से घोसिताराम की सील (मुहर) तथा अन्य अभिलेखों की प्राप्ति हुई। इस सन्दर्भ में जी0आर0 शर्मा ने कनिंघम के विषय में निम्नलिखित् विचार व्यक्त किये हैं–

''पुरातत्त्ववेत्ता के पैरों में जितनी ही धूल लगती है उतनी ही उसकी दृष्टि पैनी होती है।''

कनिंघम महोदय द्वारा 1865 के बाद के इस कार्य को बन्द करना पढ़ा क्योंकि लगभग पाँच वर्षों के लिए पुरातत्त्व विभाग को बन्द कर दिया गया। बाद में 11 जनवरी 1870 ई0 को इ0जी0 बैली के सहयोग से पुरावशेषों एवं पुरानिधियों के संरक्षण के लिए भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग का पुनः स्वतंत्र रूप से गठन किया गया। अलेक्जेण्डर कनिंघम को फरवरी 1871 ई0 को दो हजार रूपये मासिक वेतन पर भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग का महानिदेशक नियुक्त करते हुए विभाग का कार्यभार सौंपा गया।

महानिदेशक बनने के बाद कनिंघम नेजेम्स प्रिंसेप द्वारा शुरू किये गये लिपि के ज्ञान की भाषा को महत्व दिया। सन् 1872 ई0 में जेम्स बर्सेज ने 'इण्डियन एन्टीक्वेरी'और इपिग्राफिया इण्डिका (1882) नामक पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ किया जिसमें प्राचीन अभिलेखों के मूल पाठ, अनुवाद एवं लिपि को प्रकाशित किया जाने लगा। किसी राजवंश, क्षेत्र एवं काल–विशेष की दृष्टि से प्रकाशन की योजना सर्वप्रथम कनिंघम के द्वारा प्रारम्भ करवाई गयी। कनिंघम के समकालीन प्रसिद्ध भारतीय पुरालिपिवेत्ताओं में जार्ज बूलर, जे0एफ0 फ्लीट, एल0 राइस, डी0आर0 भण्डारकर, भगवान लाल इन्द्र

जी, ई0 हूल्स इत्यादि प्रसिद्ध थे। इनके द्वारा सन् 1877 ई0 में कनिंघम की योजनानुसार कार्पस इस्क्रिप्सनम् इण्डिकेरम' की पहली जिल्द प्रकाशित हुई, जिसमें मौर्य कालीन अभिलेखों, विशेषकर अशोक और दशरथ के अभिलेखों को प्रकाशित किया। 15 जनवरी 1883 ई0 को जान फेथफुल फ्लीट को तीन वर्ष के लिए पुरालिपिवेत्ता नियुक्त किया गया। फ्लीट को गुप्त काल के अभिलेखों को एक कार्पस के रूप में प्रकाशित करने का दायित्व सौंपा गया। सन् 1883 ई0 में 'कार्पस इंस्क्रिप्सनम' इण्डिकेरम' जिल्द 3का प्रकाशन फ्लीट के सम्पादकत्व में किया गया।

कनिंघम द्वारा सबसे ज्यादा रूचि पुरावशेषों के सर्वेक्षण में दिखाई गयी। भारत आते ही 1871 ई0 में इनके द्वारा मुगल साम्राज्य की दो राजधानियों दिल्ली और आगरा का सर्वेक्षण किया। सन् 1872 ई0 का समय राजपूताना, बुन्देलखण्ड, मथुरा, बोधगया एवं बंगाल (गौड) के क्षेत्रों के सर्वेक्षण में व्यतीत हुआ। 1873 ई0 में पंजाब तथा पश्चिम भारत के विभिन्न क्षेत्रों से मूर्तियाँ संग्रहीत की गयी। उत्तर प्रदेश, बुन्देलखण्ड और मालवा के क्षेत्रों का सर्वेक्षण कनिंघम द्वारा 1873 से 1877 ई0 के मध्य किया गया और भरहुत के प्रसिद्ध स्तूप के अवशेषों की खोज हुई थी। पुरानिधि निखात अधिनियम 1878 ई0 में कनिंघम द्वारा पास किया गया और 10 रूपये से अधिक मूल्य के निखात का स्वामित्व प्राप्त करने का केन्द्रीय शासन को अधिकार मिल गया। सन् 1876–79 ई0 के अभियान के दौरान कनिंघम ने तक्षशिला के टीले से सिकन्दर के आक्रमण से पहले की भारतीय सिक्कों की एक मुद्रानिधि प्राप्त की। सन् 1880–81 का वर्ष बोधगया के बौद्ध मन्दिर की सफाई करने तथा ह्वेनसांग द्वारा वर्णित समीपवर्ती स्थलों की खोज में बीता। 1882 से 1885 ई0 के बीच कनिंघम द्वारा राजपुताना, रीवां के क्षेत्रों में अनेक ऐतिहासिक स्थलों की खोज की तथा अपने कार्यो की आख्या को तैयार कर 25 जिल्दों वाली रिपोर्ट विभाग को सौंप कर 1885 ई0 में सेवा निवृत्त हो गये। इस प्रकार 1861 ई0 से लेकर 1885 ई0 तक कुछ उतार–चढ़ाव के साथ पुरातत्त्व विभाग कनिंघम के नेतृत्व में कार्य करता रहा इसलिए इस काल को कनिंघम युग के नाम से जाना जाता है। भारतीय पुरातत्त्व को सुदृढ़ आधार प्रदान करने के कारण

अलेक्जेण्डर कनिंघम को 'भारतीय पुरातत्त्व का जनक' भी माना जाता है। हालाकि कुछ विद्वान इनकी आलोचना भी करते हैं। इनका मानना है कि कनिंघम ने भौतिक अवशेषों के आधार पर मानव के समग्र इतिहास–रचना की घोर उपेक्षा की और प्रागैतिहासिक अनुसंधान की तरफ भी ध्यान नहीं दिया। परन्तु भारतीय पुरातत्त्व के लिए कनिंघम ने जो आधार प्रदान किया उसके लिए पुरातत्त्व विभाग सदैव ऋणी रहेगा। कनिंघम के द्वारा कुछ पुस्तकों की भी रचना की गयी जिसमें 'एन्शीयेन्ट ज्योग्राफी ऑफ इण्डिया', 'द स्तूप ऑफ भरहुत' एवं 'द बुक ऑफ इण्डियन एराज' भारतीय दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

कनिंघम के समकालीन भारतीय पाषाण कालीन अध्ययन के क्षेत्र में राबर्ट ब्रुस फूट का नाम सदैव अमर रहेगा। इनका सम्बद्ध पुरातत्त्व विभाग से नहीं था। ये भूगर्भ सर्वेक्षण के अधिकारी थे। यद्यपि एस0पी0 ब्यूचर (मुख्य अभियन्ता) को नवपाषाण कालीन उरकरण लेंज नदी घाटी में 1861 ई0 में मिले थे, तथापि पाषाणकाल का विधिवत अध्ययन ब्रुस फूट के 1863 में पल्लवरम् (तमिलनाडु) से उपलब्ध पूर्वपाषाण कालीन उपकरणों से आरम्भ होता है। इसके तत्काल बाद अतिरमपक्कम्से भी इसी कोटि के उपकरण प्राप्त हुए। अतिरपक्कम् का आज भी पाषाण काल के अध्ययन में विशिष्ट स्थान है। लगभग 43 वर्षों तक ब्रुस फूट देश के विभिन्न भागों में खोज करते रहे। काठियावाड से बंगाल तथा विन्ध्य पर्वत से मद्रास तक के क्षेत्र से लगभग 50 पूर्वपाषाण कालीन तथा 250 नवपाषाण कालीन स्थलों को इन्होंने खोजा था । रावर्ट ब्रुस फ्रुट के कार्यों से भारतीय प्रागैतिहास को आधार मिला। इन्होंने दक्षिण भारत में लगभग 450 प्रागैतिहासिक स्थलों की खोज की थी। इनके किये गये कार्यों से सम्बद्ध पुरावशेषों को मद्रास संग्रहालय में रखा गया है तथा सूची बद्ध और दो जिल्दों में प्रकाशित भी (1914) किया गया है, जिनका शीर्षक है 'द फूट कलैक्शन ऑफ इण्डियन प्रीहिस्टोरिक एण्ड प्रोटोहिस्टोरिक एन्टीक्वीटीज'। ब्रुस फूट के इन्हीं कार्यों के लिए इन्हें भारतीय प्रागैतिहास का पिता कहा जाता है।

कनिंघम के बाद पुरातत्त्व विभाग को संचालित करने का कार्य जेम्स बर्जेस को 25 मार्च, 1886 ई0 को महानिदेशक बनाकर सौंपा गया। हालांकि जेम्स बर्जेस ने कनिंघम के काल में भी महत्वपूर्ण कार्यों को किया था। इनका कार्य ज्यादातर वास्तुकला से सम्बन्धित था, इसलिए इन्हें वास्तुकलाविद के रूप में जाना जाता है। 1881 ई0 में वर्जेस को दक्षिण भारत के पुरातत्त्व सर्वेक्षण का कार्य सौंपा गया था। मद्रास प्रसीडेन्सी के प्रादेशिक अधिकारी रावर्ट सेबेल ने सन् 1877 ई0 में बर्जेस से पूर्व अमरावती स्तूप का सर्वेक्षण कर रिपोर्ट तैयार किया था। बर्जेस ने विजयवाड़ा के स्मारकों एवं अमरावती और जग्गयेट के स्तूपों ओर धारवाड़ जिले में स्थित चालुक्य मन्दिरों का विस्तृत सर्वेक्षण कया। 1885 ई0 में तमिलनाडु के कांजीवरम् स्थित पल्लवकाल के मंदिरों का सर्वेक्षण एवं अध्ययन का कार्य किया। पल्लव और चालुक्यों के अतिरिक्त से बर्जेस ने सातवाहन राष्ट्रकूट, होयसल इत्यादि राजवंशों की वास्तुकलाओं का अध्ययन भी किया है। इनके द्वारा वास्तु अध्ययन के अलावा एक मात्र मथुरा के कंकाली टीले का उत्खनन सन् 1887–88 ई0 में हुआ। जून 1889 ई0 में बर्जेस ने अवकाश ग्रहण कर लिया और अपने कार्यों को ''आर्कियोलाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, न्यू इम्पीरियल सीरीज' शीर्षक से

सात भागों में और शेष को न्यू इम्पीरियल सिरीज' नाम से 12 भागों में प्रकाशित किया। इस प्रकार देखा जाय तो बर्जेस का काल वास्तु कला के सर्वेक्षण की दृष्टि में महत्त्वपूर्ण काल था।

बर्जेस के अवकाश ग्रहण के बाद पुरातत्त्व विभाग का कार्य कुछ वर्षों के लिए अव्यवस्थित रहा। वाइसराय होकर लार्ड कर्जन का भारत में आना, पुरातत्त्व के विभाग के लए पूर्नजीवन था। 20 दिसम्बर 1900 ई0 को कर्जन ने भारत सचिव को पुरातात्त्विक अव्यवस्था को समाप्त करने के साथ–साथ पुरातत्त्व के महानिदेशक पद को फिर से बहाल करने की संस्तुति की। 29 नवम्बर 1901 ई0 को भारत–सचिव ने कर्जन के प्रस्तावों को स्वीकृति प्रदान की। जॉन हुर्बट मार्शल को उनकी योग्यता के

आधार पर पाँच वर्ष की अवधि के लिए पुरातत्त्व विभाग का महानिदेशक बनाया गया। इस तरह कर्जन के प्रयासों से मार्शल के नैत्त्व में पुरातत्त्व विभाग को गति प्राप्त हुई।

3.3.1 जॉन मार्शल

जॉन हुर्बट मार्शल 20 नवम्बर 1901 ई0 को भारतीय पुरातत्त्व विभाग का महानिदेशक बनाये गये और 22 फरवरी 1902 ई0 को भारत आये। भारत आने के बाद उन्होंने पुरातत्त्व विभाग को व्यवस्थित करने का कार्य प्रारम्भ किया। पुरावशेषों के सर्वेक्षण, उत्खनन एवं परिरक्षण के लिए स्पष्ट नीति एवं निश्चित सिद्धान्तों के व्यवस्थित स्वरूप को निर्धारित किया, आगे इन्हीं सिद्धान्तों को आधार बनाकर कार्य किया जाने लगा। 1904 ई0 में **'प्राचीन स्मारक परिरक्षण अधिनियम'** प्राप्त किया गया। मार्शल ने पुरातात्त्विक संग्रहालयों एवं भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण के लिए पुस्तकालय की स्थापना करने का प्रयास भी किया। 1903–04 ई0 में भारतीय पुरातत्त्व विभाग के बजट में से 4000 रूपये पुस्तकालय के निर्माण के लिए निर्धारित कर दिया था। 18 अप्रैल 1904 में मार्शल ने अपने प्रतिवेदन के माध्यम से पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग को स्थायी विभाग बनाने का सुझाव दिया। भारत सचिव के आदेश के आधार पर 28 अप्रैल सन् 1906 ई0 में भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग को एक स्थायी विभाग बना दिया गया। भारतीय पुरालिपि के विशेषज्ञ के रूप में डॉ0 स्टेन कोनो को मार्शल महोदय ने उत्तर भारत के अभिलेखों के उद्वाचन में सहायता के लिए नियुक्त किया। प्रथम विश्व युद्ध की वजह से 1906 से लेकर 1920 ई0 के मध्य पुरातात्त्विक कार्यो की गति में थोड़ी कमी आयी। जुलाई सन् 1911 को शिमला में प्राच्य विद्या के विद्वानों की संगोष्ठी में भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग के कार्यों की समीक्षा की गयी। सन् 1919 में यह विचार भी किया गया कि पुरालिपि विभाग के अतिरिक्त अन्य उच्चतर पदों पर भारतीयों की नियुक्ति उपयुक्त नहीं है। 1917 ई0 में पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग में विस्तार किया गया और तकनीकी कर्मचारियों की संख्या बढ़ा दी गयी तथा पुरातात्त्विक रसायनज्ञ की भी नियुक्ति की गयी।

मार्शल के द्वारा 1913 से लेकर 1934 ई0 तक के मध्य वर्तमान पाकिस्तान के रावलपिण्डी जिले में स्थित तक्षशिला के टीलों का उत्खनन करवाया गया, साथ ही नालन्दा, साँची, सारनाथ, भीटा (इलाहाबाद) नामक प्राचीन स्थलों का भी उत्खनन करवाया गया। लेकिन सन् 1923 ई0 में वायसराय लार्ड इंचकेप ने पुरातत्त्व सम्बन्धी बजट को 90 प्रतिशत तक घटाना चाहा, भारत सचिव और महानिदेशक के प्रयास से यह कटौती 22 प्रतिशत की गयी थी। मार्शल महोदय के समय का सबसे महत्वपूर्ण कार्य सिन्धु सभ्यता से सम्बन्धित दो पुरास्थलों की खोज था। सन् 1921 ई0 में दयाराम साहनी द्वारा पाकिस्तान के पंजाब प्रान्त के शाहीवाल जिले में रावी नदी के तट पर स्थित **'हडप्पा'** का उत्खन्न करवाया गया। एक वर्ष बाद सन् 1922 ई0 में **'मोहनजोदड़ो'** (पाकिस्तान के सिन्ध प्रान्त के लरकाना जिले में सिन्धु नदी के तट पर स्थित) का उत्खनन हुआ 1926 ई0 तक मार्शल ने एच0 हरग्रीव्स, के0एन0 दीक्षित और माधो स्वरूप वत्स की सहायता से मोहनजोदड़ों का बड़े पैमाने पर उत्खनन करवाया। इन खोजों से भारत का नाम विश्व परिपेक्ष्य में स्थापित हो गया। सन् 1925–26 ई0 में खोज–कार्य की राशि बढ़ाकर 92000 रूपये कर दी गयी जो अगले दो वर्षों के लिए बढ़ाकर प्रतिवर्ष 2 लाख 50 हजार कर दी गयी, जिससे पुरातत्त्व विभाग को अत्यधिक प्रगति हुई और उत्खनन की विधि को अधिक महत्ता मिली। लेकिन अक्टूबर 1928 ई0 में जॉन मार्शल ने अवकाश ग्रहण कर लिया।

मार्शल महोदय के बाद पुरातत्त्व विभाग का महानिदेशक पद एच0 हरग्रीव्स ने सम्भाला और सिन्ध क्षेत्र में कार्य करवाया। ये ज्यादा दिनों तक इस पद पर नहीं रह पाये और 29 जुलाई 1931 ई0 में रायबहादुर दयाराम साहनी को भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग का महानिदेशक बनाया गया। लेकिन विश्व में व्याप्त आर्थिक मंदी का प्रभाव पुरातत्त्व विभाग पर भी पड़ा और वार्षिक बजट सहित, कर्मचारियों की संख्या इत्यादि को भी कम कर दिया गया। 1 जुन 1935 ई0 में जे0एम0 ब्लेकिस्टन को महानिदेशक बनाया गया। भारत सरकार के सन् 1935 के अधिनियम के अनुसार पुरातत्त्व विषय को केन्द्रिय सूची के तहत स्थान दिया गया। सन् 1932–1935 में डी0 टेरा तथा टी0टी0 पीटरसन के येल

कैम्ब्रिज अभियान का भारत में पाषाण काल के अध्ययन में विशेष योगदान है। इस अभियान दल ने सिन्धु की सहायक सोहन नदी घाटी तथा मध्य भारत की नर्मदा नदी घाटी में पाषाण कालीन संस्कृति और तत्कालीन जलवायु का अध्ययन किया। हालाकि इस अभियान से पूर्व 1928 ई0 में प्रसिद्ध भूगर्भवेत्ता डी0एन0 वाडिया ने भी इस क्षेत्र में अपने जीवाश्मीय और भूगर्भशास्त्रीय अध्ययन की प्रक्रिया में पूर्वपाषाण कालीन उपकरण प्राप्त किया था।

1936 ई0 के बाद से धीरे–धीरे पुरातत्त्व विभाग की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ होने लगी थी और 21मार्च 1937 ई0 को राय बहादुर के0 एन0 दीक्षित को महानिदेशक बनाया गया। इनके समय पुरातात्त्विक गतिविधि में सुधार लाने के लिए 1938 ई0 में सुमेरियन सभ्यता के महत्वपूर्ण पुरास्थल 'उर' के उत्खननकर्ता लियोनाई वूली को भारत सरकार के आदेश पर बुलाया गया। वूली ने उत्खनन कार्य को वैज्ञानक ढ़ंग से करने पर जोर दिया। वूली ने उत्तर प्रदेश के बरेली जिले में स्थित अहिच्छत्र के टीले के उत्खन्न का सुझाव दिया, जिसे स्वीकार कर लिया गया। 1940–44 ई0 के मध्य अहिच्छत्र के टीले का उत्खनन विस्तृत पैमाने पर के0एन0 दीक्षित के निर्देशन में करवाया गया। अहिच्छत्र के उत्खनन से प्राप्त पात्र–परम्पराओं के वर्गीकरण पर विशेष ध्यान दिया गया ताकि गंगा के मैदान में विकसित होने वाली संस्कृतियों के सही अनुक्रम की जानकारी हो सके। दीक्षित के प्रोत्साहन पर कलकत्ता विश्वविद्यालय ने दीनाजपुर जिले में स्थित बानगढ़ के पुरातत्त्व के उत्खनन के लिए अनुज्ञापत्र प्राप्त किया। इस प्रकार उत्खनन कार्य में रूचि लेने वाला पहला विश्वविद्यालय बन गया। पुरातात्त्विक उत्खनन के कार्यों में जैसे ही वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग होना शुरू हुआ, द्वितीय विश्वयुद्ध की विभिषिका के कारण पुरातात्त्विक विभाग पर असर पड़ा और धन की कमी हो गयी।

3.3.2 मार्टिमर व्हीलर

ब्रिटिश पुरातत्त्वविद बूली के सुझावों को पूरा करने के लिए 1944 ई0 में ब्रिटिश सरकार ने राबर्ट इरिक मार्टिमर व्हीलर को भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग का महानिदेशक नियुक्त किया। इनका

सबसे बड़ा योगदान पुरातात्त्विक कार्यों में वैज्ञानिक विधियों के प्रयोग का लागू करना था। इन्होंने उत्खनन में स्तरीकरण एवं त्रिविमिय नाप–जोख पद्धति का प्रयोग किया। इनके द्वारा भारतीय युवा पुरातत्त्वविदों, जैसे–ए0 घोष, बी0के0थापर, बी0बी0 लाल, एस0आर0 राव, के0आर0 श्रीनिवासन इत्यादि को विधिवत् प्रशिक्षण प्रदान करवाया जो आगे चलकर बड़े–बड़े पद पर आसीन हुए। सन् 1945 ई0 में केन्द्रीय पुरातत्त्व सलाहाकार परिषद का गठन पुरातत्त्व सम्बन्धी आवश्यकताओं एवं भावी योजनाओं के विषय में केन्द्रीय शासन को परामर्श देने के उद्देश्य से किया गया। सन् 1946 ई0 में मॉरिस गॉयर द्वारा राष्ट्रीय संग्राहलय की कार्य प्रणाली सम्बन्धी समीक्षा शासन के समक्ष प्रस्तुत किये जाने और मार्टिमर व्हीलर के प्रयासों के परिणाम स्वरूप 15 अगस्त सन् 1949 ई0 में राष्ट्रीय संग्रहालय का उद्घाटन–कार्य किया गया। व्हीलर द्वारा प्रशिक्षित पुराविदों की कमी को दूर करने के लिए पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग द्वारा करवाये जा रहे उत्खनन में विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों को प्रशिक्षण देने की प्रक्रिया की शुरूआत की गयी।

मार्टिमर व्हीलर ने अपना ज्यादा ध्यान दक्षिण भारत के पुरातत्त्व की ओर लगाया और 1945 ई0 में पाण्डिचेरी में स्थित **'आरिकामेडु'** नामक पुरास्थल का उत्खनन करवाया, परिणामस्वरूप रोम के साथ भारत के सम्बन्ध को स्थापित करने वाले पुरावशेषों को प्राप्त किया। तत्पश्चात 1947 ई0 में कर्नाटक(मैसूर) प्रान्त के चित्रदुर्ग जिले में स्थित ब्रह्मगिरि नामक प्राचीन स्थल का उत्खनन करवाया। यहाँ के उत्खनन से तीन संस्कृतियों के प्रमाण प्राप्त हुए जो क्रमशः नवपाषाण काल, बृहद्पाषाण काल और आन्ध्र–सातवाहन संस्कृति का है। कर्नाटकके चित्रदुर्ग जिले में स्थित चन्द्रवल्ली नामक एक अन्य स्थल का भी सन् 1947 ई0 में ही उत्खनन करवाया गया। जहाँ से सातवाहन वंश के सिक्के प्राप्त हुए। मार्टिमर व्हीलर के द्वारा किये गये कार्यों में 'एन्शियेन्ट इण्डिया' नामक जर्नल का प्रकाशन भी महत्वपूर्ण है।

मार्टिमर व्हीलर के बाद 30 अप्रैल 1948 ई0 को एन0पी0 चक्रवर्ती को पुरातत्त्व विभाग का महानिदेशक बनाया गया। इनके कार्यकाल में दिल्ली में राष्ट्रीय संग्रहालय की स्थापना हुई और एफ0ई0 ज्वाइनर नामक प्रसिद्ध प्रागैतिहासविद् द्वारा भारत का भ्रमण किया गया। एन0पी0 चक्रवर्ती के बाद जुन 1950 ई0 में माधो स्वरूप वत्स को भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग का महानिदेशक बनाया गया। इनके द्वारा 1950–53 ई0 तक राष्ट्रीय महत्व के स्मारकों के परिरक्षण के लिए आवश्यक कदम उठाया गया और संसद द्वारा सन् 1951 ई0 में ''प्राचीन ऐतिहासिक स्मारक पुरास्थल तथा ध्वंशावशेष'' अधिनियम पारित किया गया।

एम0एस् वत्स के बाद पुरातत्त्व विभाग की बागडोर 1953 ई0 में अमलानन्द घोष ने सम्भाली। इनके द्वारा सिन्धु सभ्यता के महत्वपूर्ण स्थलों कालीबंगा (राजस्थान के हनुमानगढ़ जिले में), लोथल (गुजरात के अहमदाबाद) और पंजाब के रोपड़ इत्यादि की खोज की। इसी समय उत्तर भारत में उपरी गंगा घाटी में ताम्रनिधियों की खोज हुई। उत्तर प्रदेश के मेरठ जिले में गंगा के तट पर स्थित हस्तिनापुर का उत्खनन करवाया। पुरातात्त्विक महत्व की वस्तुओं और स्मारकों की खोज के लिए 1957 ई0 में गाँव–गाँव सर्वेक्षण की योजना बनाई गयी। ''प्राचीन स्मारक तथा ध्वशांवशेष अधिनियम'' 15 अक्टूबर सन् 1959 ई0 में देश में लागू किया गया।

3.3.3 स्वातंत्रोत्तर युग

इस युग में भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग पूर्णतः भारतीय महानिदेशकों द्वारा संचालित होने लगता है। प्रत्येक राज्य में पुरातत्त्व विभाग की अलग–अलग स्थापना हो जाती है और पुरातत्त्व विभाग में पुरातत्त्वविद के साथ एक पुरालिपिविद्, मुद्राशास्त्री और कला इतिहासविशेषज्ञों को सेवा पर लगाया जाता है। अमलानन्द घोष के नेतृत्व में इस काल में भी सिन्धु सभ्यता से सम्बन्धित कार्य जारी रहते हैं। सिन्धु सभ्यता के नवीन अन्वेषित और उत्खनित पुरास्थलों में गुजरात के कच्छ के सुरकोटदा तथा धौलावीरा, हरियाणा के भगवानपुर तथा हिसार जिले के बणावली इत्यादि हैं। अभी भी गुजरात,

राजस्थान, हरियाणा, पंजाब, जम्मू–कश्मीर, महाराष्ट्र और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में सिन्धु सभ्यता से सम्बन्धित कार्य भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग, राज्य पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग, विभिन्न विश्वविद्यालय के पुरातत्त्व विभाग द्वारा किये जा रहे है। प्रो0 बी0बी0 लाल के नेतृत्व में महाभारत और रामायण में वर्णित पुरास्थलों की खोज का कार्य जारी रहता है। इन ऐतिहासिक काल के पुरास्थलों में हस्तिनापुर, अयोध्या, नन्दीग्राम, श्रृग्वेरपुर, चित्रकूट, भारद्वाज आश्रम एवं पुराना किला इत्यादि हैं। विदर्भ क्षेत्र में तकालघाट, खापा, महुर्झरी, नैकुण्डइत्यादि बृहत्पाषाणिक संस्कृति से सम्बन्धित पुरास्थलों का उत्खनन एस0बी0देव के नेतृत्व में किया गया।

प्रागैतिहासिक अनुसंधान भी इस काल में विभिन्न विश्वविद्यालयों द्वारा समय–समय पर किये गये, इनमें दकन कालेज, पूणे, एम0एस0 विश्वविद्यालय, बड़ौदा, इलाहबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, मद्रास विश्वविद्यालय और तमिल विश्वविद्यालय इत्यादि हैं। प्रमुख प्रागैतिहासिक अनुसंधानों में बेलन घाटी, प्रवरा नदी घाटी, कश्मीर घाटी एवं राजस्थान के भीलवाड़ा जिले में स्थित वागोर, मध्यप्रदेश के रायसेन जिले में स्थित भीमबैठका, उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर जिले में स्थित बधईखोर, मोरहना पहाड़, लेखहिया, इलाहाबाद जिले में स्थित चौपनीमाण्डों, बिहार के मुंगेर जिले में स्थित पैसरा, गंगा मैदान में स्थित सरायनाहर राय, महदहा और दमदमा एवं बिहार के सारण जिले में स्थित चिरांद इत्यादि विशेष उल्लेखनीय हैं। सन् 1968 ई0 में 'इण्डियन आर्कियोलाजिकल सोसाइटी' की स्थापना ए0के0 नारायण और अन्य पुराविद्वानों द्वारा मिलकर वाराणसी में की गई। इस संस्था द्वारा प्रतिवर्ष **'पुरातत्त्व'** नामक शोध प्रत्रिका का प्रकाशन भी किया जाता है। सन् 1977 ई0 में दकन काजेल, पूणे में 'इण्डियन सोसाइटी फार प्रीहिस्टोरिक एण्ड क्वॉटर्नरी स्टडीज' (ISPQS) की स्थापना की गयी और संस्था द्वारा प्रतिवर्ष ''मैन एण्ड इन्वॉयरनमेंट'' नामक शोध पत्रिका की दो जिल्द प्रकाशित की जाती है।

इस काल में एक और महत्वपूर्ण बदलाव पुरावशेषों के अध्ययन के लिए प्रयोगशालाओं का प्रयोग होना शुरू हुआ। इसमें टाटा फण्डामेन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट बाम्बे (1945), फिजिकल रिसर्च लेबोरेटरी, अहमदाबाद (1947, डॉ0 विक्रम जी साराभाई), बीरबल साहनी इंस्टिट्यूट ऑफ पैलियोवॉटनी, लखनऊ (1946, वीरबल साहनी), नेशनल इंस्टिट्यूट ऑफ ओसियानोग्राफी, गोवा (1966), नेशनल रिमोट सेसिंग सेन्टर, हैदराबाद, नेशनल जियोफिजिकल लैबोरेटरी, हैदराबाद इत्यादि विशेष उल्लेखनीय है। इस युग में पुरातत्त्व के अध्ययन में वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग सर्वेक्षण, उत्खनन, रिपोर्ट लेखन, तिथि निर्धारण एवं प्रलेखन सभी क्षेत्रों में दिखाई देता है।

अमलानन्द घोष के बाद भरतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग की कमान बी0बी0 लाल के हाथ में आती है। बी0बी0 लाल महोदय 1968 ई0 से लेकर 1972 ई0 तक महानिदेशक के पद पर आसीन रहते है। इनके नेतृत्व में बहुत से ऐतिहासिक,आद्येतिहासिकऔर प्रागैतिहासिक पुरास्थलों का उत्खनन एवं अन्वेषण हुआ जिससे भारतीय इतिहास के बहुत से पटाक्षेपों को उद्घाटित करने में सहायता मिली।

बी0बी0 लाल के बाद एम0एन0 देशपाण्डे (मधुसुदन नरहरि देशपाण्डे ने 1972 से 1978 ई0 तक महानिदेशक का पद सम्भाला। इनके कार्यकाल की महत्वपूर्ण उपलब्धि महाराष्ट्र के रत्नागिरि की शैलकृत गुफाओं की खोज है। इसके बाद 1978 से लेकर 1981 ई0 तक बी0के0 थापर (बालकृष्ण थापर), 1981 से 1983 ई0 तक देबाला मित्रा महानिदेशक बने। देबाला मित्रा महानिदेशक बनने वाली प्रथम महिला थीं। मित्रा के बाद एम0एस0 नागराज राव ने 1983–1986 ई0 तक महानिदेशक का पद सम्भाला। राव के उपरान्त भारतीय प्रशासनिक सेवा के सांस्कृतिक मंत्रालय के सचिव आर0पी0 त्रिपाठी ने पदेन महानिदेशक के रूप में कार्य किया। इसके बाद जगत पति जोशी ने 1987–1990 ई0 तक महानिदेशक बने। इनके द्वारा सिन्धु सभ्यता के दो महत्वपूर्ण पुरास्थल घौलावीरा और सुरकोटदा की खोज की गयी। तदोपरान्त मुनीष चन्द्र जोशी 1990–1993 (कर्नाटक पुरातत्त्व विभाग के ही) ई0 तक पुरातत्त्व विभाग के महानिदेशक बने। इनके कार्यकाल में ही विवादित बाबरी मस्जिद विध्वंश (1992 ई0)

हुआ और पूरे भारत में हिन्दु–मुस्लिम दंगे शुरू हो गया था। जिसके कारण इनको हटा दिया गया और भारतीय प्रशासिनक सेवा (I.A.S.) की अधिकारी अचला मौलिक ने 1993–1994 तक भारतीय पुरातत्त्व विभाग को सम्भाला। इस तरह से 1993 से लेकर 2010 तक भारतीय पुरातत्त्व विभाग का दायित्व पुरातत्त्वविद् के बजाय आई0ए0एस0 अधिकारियों द्वारा चलाया गया। अचला मौलिक के बाद क्रमशः एस0के0 महापात्रा (1994–95), वी0पी0 सिंह (1995–97), अजय शंकर (1997–98), एस0वी0माथुर (1998–2001), के0जी0 मेनन (2001–2004), सी0बाबू राजीव (2004–2007), के0एम0 श्रीवास्तव (2009–10), गौतम सेनगुप्ता (2010–2013, पुरातत्त्ववेत्ता), प्रवीण श्रीवास्तव (2013–2014), राकेश तिवारी (2014–2017, पुरातत्त्ववेत्ता) इत्यादि भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग के महानिदेशक बने। वर्तमान समय में श्रीमती उषा शर्मा महानिदेशक का पद सम्भाल रही है। ये 2017 से ही इस पद पर नियुक्त हुई थी, जो आई0ए0एस0 अधिकारी हैं।

भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग को सुव्यवस्थित ढंग से कार्य करने के लिए 29 क्षेत्रीय इकाईयों (सर्किल, 2015,ASI) में बाटा गया है। प्रत्येक सर्किल की देख–रेख के लिए अधीक्षक पुरातत्त्वविद की नियुक्ति की जाती है (आर्गेनाइजेशन, ए0एस0आई0, रिट्राइण्ड) सर्किल्स का नाम निम्न् है– (1) आगरा, (2) आइजोल (1890), (3) अमरावती, (4) औरांगाबाद, (5) बैगलुरू, (6) भोपाल, (7) भुवनेश्वर, (8) चण्डीगढ़, (9) चेन्नई, (10) देहरादून, (11) देल्ही (दिल्ली), (12) धारवाड़, (13) गोवा, (14) गुवाहटी, (15) हैदराबाद, (16) जयपुर, (17) जोधपुर, (18) कोलकाता, (19) लखनऊ, (20) मुम्बई, (21) नागपुर, (22) पटना, (23) रायपुर, (24) राँची, (25) सारनाथ, (26) शिमला, (27) श्रीनगर, (28) त्रिचुर (केरल), (29) बडोदरा (गुजरात)।

3.4 पुरातात्त्विक सिद्धांत एवं पुरातत्व के नवीन प्रकार

पुरातात्त्विक सिद्धांत, अनेकों भिन्न बौद्धिक ढांचों को संदर्भित करते हैं, जिसके जरिये पुरातत्त्वविद पुरातात्त्विक आंकड़ों या सामग्रियों की व्याख्या करते हैं। पुरातत्त्व के लिए कोई एकल

सिद्धांत नहीं है, बल्कि अनेकों सिद्धांत हैं, जिसके अनुसार पुरातत्त्वविद यह विश्वास करते हैं कि सूचना की अलग–अलग तरह से व्याख्या की जानी चाहिए। इस ज्ञानक्षेत्र के पूरे इतिहास के दौरान कुछ पुरातात्त्विक सिद्धांतों के लिए समर्थन की विभिन्न प्रवृत्तियां उभरीं, चरम पर पहुंचीं और कुछ मामलों में उनका खात्मा हो गया। कुछ पुरातात्त्विक सिद्धांतों, जैसे प्रक्रियात्मक पुरातत्त्व का मानना है कि पुरातत्त्वविद अपनी खोजबीन में वैज्ञानिक विधि का उपयोग कर भूतकाल के समाजों के बारे में सटीक और वस्तुनिष्ठ सूचना विकसित करने में सक्षम हो सकते हैं, जबकि उत्तर–प्रक्रियात्मक पुरातत्त्व जैसा खेमा इसकी सत्यता पर सवाल करता है और यह दावा करता है कि पुरातात्त्विक सामग्री को मानवीय व्याख्या और सामाजिक कारकों द्वारा विकृत किया जा सकता है और इसलिए भूतकाल के समाजों के बारे में उनकी कोई व्याख्या व्यक्तिनिष्ठ ही होती है। इसके बदले मार्क्सवादी पुरातत्व जैसे अन्य पुरातात्त्विक सिद्धांत, पुरातात्विक साक्ष्य को इस ढांचे के भीतर व्याख्यायित करते हैं कि कैसे इसके समर्थक समाज के संचालन और उसके विकास के सम्बन्ध में क्या मत रखते हैं।

3.4.1 सांस्कृतिक– ऐतिहासिक पुरातत्व

पुरातात्त्विक सिद्धांत के इतिहास में पहला प्रमुख चरण सामान्यतः सांस्कृतिक या संस्कृति इतिहास के रूप में संदर्भित किया जाता है। स्थलों को अलग ''संस्कृतियों'' में समूहबद्ध करना सांस्कृतिक इतिहास का एक उत्पाद है, जिससे कि इन संस्कृतियों का भौगोलिक फैलाव और इनके समय के दायरे को निर्धारित किया जा सके एवं उन दोनों के बीच अंतःक्रिया और विचारों के प्रवाह का पुनर्निर्माण किया जा सके। सांस्कृतिक इतिहास, जैसा कि

नाम से ही पता चलता है, इतिहास के विज्ञान के साथ निकटता से संबद्ध है। सांस्कृतिक इतिहासकारों ने संस्कृति के प्राथमिक मॉडल को नियोजित किया, जो सिद्धांत यह बताता है कि **प्रत्येक संस्कृति**

मानव व्यवहार को संचालित करने वाले तरीकों का एक समूह है। इस प्रकार, संस्कृतियों को शिल्प कौशल के पैटर्न से अलग किया जा सकता है, उदाहरण के लिए यदि खुदाई से निकले एक बर्तनों के टुकड़े को त्रिकोणीय पैटर्न से सजाया गया है तो दूसरा चारखानेदार पैटर्न के साथ, और संभव है वे अलग–अलग संस्कृतियों से संबंधित हों। इस तरह का एक दृष्टिकोण स्वाभाविक रूप से भिन्न आबादियों, उनके मतभेदों द्वारा वर्गीकृत और एक–दूसरे पर उनके प्रभावों के रूप में अतीत के एक दृश्य की ओर पहुंचाता है। व्यवहार में परिवर्तनों को फैलाव द्वारा समझाया जा सकता है, जहां सामाजिक और आर्थिक संबंधों के माध्यम से नये विचारों का एक संस्कृति से दूसरी संस्कृति में प्रसार हुआ।

ऑस्ट्रेलियाई पुरातत्वविद् गॉर्डन चाइल्ड ऐसे पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने संस्कृतियों के बीच, विशेष रूप से प्रागैतिहासिक यूरोप के संदर्भ में, संबंधों की अवधारणा की खोज की और उसका विस्तार किया। 1920 के दशक तक पर्याप्त पुरातात्त्विक सामग्री की खुदाई हुई और उनका अध्ययन किया गया, जिससे पता चला कि विस्तारवाद एकमात्र तंत्र नहीं था, जिसके माध्यम से परिवर्तन हुआ। अंतर–युद्ध अवधि में हुई राजनीतिक उथल–पुथल से प्रभावित चाइल्ड ने तब तर्क दिया था कि क्रांतियों ने अतीत के समाजों में बड़े बदलावों को आकार दिया। उन्होंने एक नवपाषाण क्रांति का अनुमान लगाया, जिसने लोगों को भटकते हुए शिकार करने के बदले बसने और खेती करने के लिए प्रेरित किया। इसने सामाजिक संगठन में उल्लेखनीय बदलाव लाये होंगे, जिसने चाइल्ड के तर्क के मुताबिक दूसरी शहरी क्रांति का नेतृत्व किया, जिसने प्रारंभिक नगरों का गठन किया। इस सूक्ष्म पैमाने वाली सोच अपने आप में क्रांतिकारी थी और चाइल्ड के विचारों को आज भी व्यापक रूप से प्रशंसा प्राप्त है और उनके विचारों को सम्मानित किया जाता है।

3.5 सारांश

भारतीय पुरातत्विक विधा के विकास के इतिहास को लगभग 200 वर्षों का माना जा सकता है। हालांकि भारतीय ज्ञान परंपरा को समझने की शुरुआत ब्रिटिशर्स द्वारा 17 वीं 18 वीं शताब्दी के मध्य

शुरू कर दी जाती है। इसी क्रम में 15 जून 1784 ईस्वी में सर विलियम जोन्स द्वारा कलकत्ता में रॉयल एशियाटिक सोसायटी की स्थापना प्रथम महत्वपूर्ण पड़ाव के रूप में देखी जाती है। इसके बाद भारत के विभिन्न प्राचीन ग्रंथों का अंग्रेजी व अन्य भाषाओं में अनुवाद की प्रक्रिया शुरू हो जाती है जिसमें चार्ल्स विल्किंस द्वारा 1785 में प्रसिद्ध ग्रंथ भगवद्गीता का अंग्रेजी में अनुवाद किया गया। बंगाल एशियाटिक सोसायटी की स्थापना के बाद 1804 एवं 1818 ईस्वी में बम्बई और और मद्रास में एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना हुई और 1823 में लंदन में एशियाटिक सोसाइटी आप ग्रेट ब्रिटेन की स्थापना हुई। इसी क्रम में सन् 1861 ईस्वी में भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग की स्थापना तत्कालीन गवर्नर जनरल लॉर्ड केनिंग के सहयोग से जनरल कनिंघम के द्वारा की गई। तब से लेकर आज तक पुरातत्व विभाग को कई उतार चढ़ावों का सामना भी करना पड़ा। पुरातत्व का विकास कनिंघम काल, मार्शल काल, मोर्टिमर व्हीलर एवं स्वातंत्रोंत्तर काल से होता हुआ आधुनिक काल तक पहुँच चुका है और पुरातत्व के अध्ययन के नवीन तरीकों के साथ–साथ पुरातत्व के विभिन्न आयाम भी आते गए जिनसे मानवीय इतिहास संस्कृति एवं सभ्यता की गाथा को समझने में आसानी हुई।

3.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. अग्रवाल, डी0पी0 .1984. *द आर्कियोलॉजी ऑफ इण्डिया.* सेलेक्ट बुक सर्विस सिन्डीकेटः नई दिल्ली।
2. जैन, वी0के0 .2006. *प्रीहिस्ट्री एण्ड प्रोटोहिस्ट्री ऑफ इण्डियाः एन अप्रेजल.* डी0के0 प्रिन्टवर्ल्डः न्यू दिल्ली।

3. सर मॉर्टिमर व्हीलर, 1990 'पृथ्वी से पुरातत्त्व' हिन्दी माध्यम निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय।
4. एच0 डी0 सांकलिया,1969. पुरातत्त्व परिचय', डेक्कन कालेज, पूना।
5. के0 राजन, 2002 'आर्कियोलॉजीः प्रिंसिपल एण्ड मेथड्स,' मनू पाथ्पिक्कम, तंजौर।
6. आर0 के0 वर्मा, 'क्षेत्रीय पुरातत्त्व' इलाहाबाद
7. वी0 के0 पाण्डेय, 2017 'पुरातत्त्व मीमांसा', शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद।
8. पाण्डेय, जे0एन0 2008. *पुरातत्त्व विमर्श.* प्राच्य विद्या संस्थानः इलाहाबाद।
9. भट्टाचार्य, डी0के0 2007. *भारतीय प्रागैतिहास की रूपरेखा.* पलका प्रकाशनः दिल्ली।
10. गोयल, श्रीराम. 2008. *प्रागैतिहासिक मानव और संस्कृतियाँ.* विश्वविद्यालय प्रकाशनः वाराणसी।
11. शर्मा, जी0आर0 1985. *भारतीय संस्कृतिः पुरातात्विक आधार, नई दिल्ली* : नेशनल पब्लिशिंग हाउस।
12. कुशवाहा, संजय कुमार, 2016. *प्रागैतिहासिक संस्कृति के विविध पक्ष,* वाराणसीः कला प्रकाशन.
13. जायसवाल, विदुला. 1989. *भारतीय इतिहास का मध्य–प्रस्तर युग.* स्वाती प्रकाशनः दिल्ली।
14. दुबे, अनिल कुमार .2005. *मध्यगंगा घाटी में अधिवास प्रक्रिया* (जौनपुर जनपद के विशेष सन्दर्भ में) इलाहाबादः स्वाभा प्रकाशन।
15. मिश्रा, वी0डी0 1997. *सम ऑसपेक्ट्स ऑफ इण्डियन आर्कियोलाजी.* प्रभात प्रकाशनः इलाहाबाद।

3.7 बोध प्रश्न

- पुरातत्त्व के इतिहास पर निबन्ध लिखिए।
- पुरातत्त्व के विकास पर विस्तृत टिप्पणी लिखिए।
- पृथ्वी के तृतीयक चरण के महत्व पर प्रकाश डालिए।
- 1904 ई0 में 'प्राचीन स्मारक परिरक्षण अधिनियम' की विशेषता स्पष्ट किजिए।

इकाई–4 पुरातात्विक स्थलों के अन्वेषण की विधियाँ

इकाई की रूपरेखा

4.1 प्रस्तावना

4.2 उद्देश्य

4.3 पुरातात्विक स्थलों के अन्वेषण की विधियां

4.4 आकास्मिक खोज

4.5 साहित्यिक श्रोत

4.6 जनश्रुतियों के आधार पर

4.7 सतह पर प्राप्त सामग्री

4.8 वैज्ञानिक विधि

4.8.1 हवाई छायांकन

4.8.2 लौह–शलाका विधि

4.8.3 शब्द–ध्वनि सर्वेक्षण विधि

4.8.4 धातु संसूचक यंत्र

4.8.5 विद्युत प्रतिरोध मापक यंत्र

4.8.6 चुम्बकत्वामापी विधि

4.8.7 भू–गर्भीय रडार

4.8.8 मृदा विश्लेषण

4.8.9 सागरतलीय सर्वेक्षण

4.9 खोजक दल के साज–सामान/सर्वेक्षणकर्त्ता के लिए आवश्यक वस्तुएँ

4.10 सारांश

4.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

4.12 बोध प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

पुरातात्त्विक क्षेत्रीय सर्वेक्षण एक सुव्यवस्थित वैज्ञानिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा पुरातत्त्ववेत्ता किसी स्थान या क्षेत्र के सन्दर्भ में पुरातात्त्विक तथ्यों के बारे में सूचनाएँ एकत्रित करता है। किसी भी पुरातत्त्ववेत्ता के लिए अपने शोध परियोजना के सन्दर्भ में नवीन तथ्यों को एकत्रित करना। सर्वप्रथम

शोध के लक्ष्य के आधार पर अन्वेषण कार्य की समय सीमा निर्धारित होती है। इसके अतिरिक्त पुरावस्तुओं का विश्लेषण और साथ ही साथ तुलनात्मक अध्ययन भी किया जाता है।पुरातत्ववेत्ता शोध के आवश्यकतानुसार क्षेत्र विशेष के सर्वेक्षण की योजना बनाता है। समय और संसाधनों के आधार पर अपने सर्वेक्षण कार्य को मूल रूप देता है। कभी–कभी पुरास्थलों से पुरावस्तुओं के मिलने की सूचना स्थानीय लोगों से प्राप्त होती है जो सर्वेक्षण करने वालोंके लिए आधार का काम करती है।

4.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान सकेंगे–

- पुरातात्विक स्थलों के अन्वेषण की विधियों को
- आकस्मिक खोज के विषय में
- जनश्रुतियों के आधार पर स्थलों के सर्वेक्षण को
- अन्वेषण की वैज्ञानिक विधियों को
- खोजक दल के साज–सामान/सर्वेक्षणकर्त्ता के लिए आवश्यक वस्तुओं को

4.3 पुरातात्विक स्थलों के अन्वेषण की विधियाँ

पुरातत्त्व विषय का मूल उद्देश्य पुरावेशेषों का अध्ययन ही है अतः इन अवशेषों की प्राप्ति भी महत्वपूर्ण है। पुरावशेषों का संकलन किसी न किसी सन्दर्भ के साथ होना आवश्यक होता है। क्योंकि यदि कोई पुरावशेष अन्यत्र ऐसे ही प्राप्त हो जाय तो उसके सम्पूर्ण पक्षों पर प्रकाश डालना मुश्किल हो जाता है। आधुनिक परिवेश में पुरावशेषों के अन्तर्गत उन सभी वस्तुओं को भी रखा जाने लगा है, जो अप्रत्यक्ष रूप से मानव को प्रभावित किया था अथवा जो मानव के क्रिया–कलापों से प्रभावित हुए थे। इसमें वे सभी वस्तुएँ आती है जिनके द्वारा प्राकृतिक वस्तुओं को उनके परिवेश से अलग करना अथवा एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना तथा सभी प्रकार की मानव निर्मित संरचनायें आदि। इस प्रकार की सभी वस्तुएँ जब सन्दर्भयुक्त होती है, तब वे, पुरातत्त्व के साधन के रूप में प्रयुक्त होती है। केवल वस्तु का सन्दर्भ ही अपने में पर्याप्त नहीं है उसका, उसके साथ मिलने वाली अन्य वस्तुओं के साथ

सन्दर्भ भी जानना अत्यन्त जरूरी होता है। पुरातत्त्ववेत्ता द्वारा पुरातत्त्व सम्बन्धी अनुसंधान मुख्यतः दो प्रकार से किये जाते हैः प्रथम प्थ्वी की सतह पर पाई गयी वस्तुओं की खोज (सर्वेक्षण) एवं दूसरा भूगर्भ में पड़ी हुई वस्तुओं को सतर्क उत्खनन के द्वारा प्रकाश में लाना। इनके द्वारा ही हमें सन्दर्भ का बोध होता है। सन्दर्भ रहित पुरावशेषों का कोई पुरातात्विक महत्व नहीं है। उनकी उपयोगिता मात्र कलाकृति के रूप में ही हो सकती है। सन्दर्भयुक्त पुरानिधियों का संकलन पुरातत्त्ववेत्ता का एकमात्र साधन है जिसके द्वारा वह इतिहास के पुनर्निर्माण के लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयास करता है।

पुरावशेषों की प्राप्ति पुरास्थल से होती है, और पुरास्थलों की खोज परम्परागत एवं वैज्ञानिक विधि से सर्वेक्षण तथा कभी–कभी आकस्मिक रूप से भी हो जाती है। पुरास्थल से तात्पर्य ऐसे स्थल से है जहाँ से मानव द्वारा प्रयोग की गयी वस्तुओं/पुरावशेषों की प्राप्ति होती है। पुरावशेष एक व्यापक शब्द है, जिसके अन्तर्गत कलाकृतियाँ, पुरावशेष एवं बहुमूल्य पुरानिधि अधिनियम, 1972 के अनुसार 100 वर्षों से अधिक प्राचीन सभी वस्तुऐं आती है, जिनका ऐतहासिक, कलात्मक, धार्मिक, राजनीतिक एवं संग्रहालयीय महत्व है। अधिनियम 1972 में बने कानून को 5 अप्रैल 1976 में सिक्किम को छोड़कर सम्पूर्ण भारत में लागू कर दिया गया। पुरास्थलों की खोज में प्रायः पुरास्थल–अन्वेषण अथवा पुरास्थल सर्वेक्षण या क्षेत्रीय सर्वेक्षण कहा जाता है। विदेशी पुरातत्त्वविद् इसे व्यावहारिक पुरातत्त्व कहना पसन्द करते हैं। 'Filed Archaeology' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग 'विलियम फ्रीमैंन' ने उन प्राकृतिक विज्ञानियां के लिए किया था जो वनस्पतियों एवं जीवित प्राणियों का अध्ययन उनके प्राकृतिक परिवेश में करते थे। ओ0जी0एस0 क्राफर्ड ने अन्वेषण पुरातत्त्वविद् शब्द का प्रयोग इन व्यक्तियों के लिए पुरातत्त्व में किया जाता है, जो सतह पर बिखरे पुरावशेषों का संग्रह करता है और उनका विवरण तैयार करता है। प्रत्येक पुरास्थल छोटा या बड़ा हो सकता है, जिसकी अपनी अलग–अलग विशेषताएँ और समस्याएँ होती है। पुरास्थल से प्राप्त भौतिक अवशेषों के आधार उसे एकल संस्कृति वाला या बहुसंस्कृति वाला माना जाता है। इसे प्रागैतिहासिक, आधेतिहासिक, ताम्रपाषाणिक, महापाषाणिक प्रारम्भिक ऐतिहासिक और

ऐतिहासिक काल में विभाजित किया जाता है। पुरास्थल की प्रकृति के आधार पर भी कई विभाजन किये गये है, जो निम्नवत् हैं–

1. प्रागैतिहासिक खुले क्षेत्र के पुरास्थल जैसे– सोहन नदी घाटी, कोर्टल्यार नदी घाटी की वेदिकाएँ।
2. प्रागैतिहासिक गुफा स्थल जैसे– भीमबैठका, लेखहिया, बघईखोर, गुड़ियाम।
3. नव पाषाणिक राख के टीले वाले पुरास्थल जैसे पिकलीहल, मास्की, उतनूर इत्यादि।
4. आवासीय टीला जैसे– सौहगोरा, ताराडीह, इमलीडीह, गिलुण्ड इत्यादि।
5. शवाधान पुरास्थल जैसे– कोडुडमनल, खापा, ब्रह्मगिरि।
6. स्मारकीय पुरास्थल जैसे– हड़प्पा, मोहनजोदड़ो, कालीबंगा, धौलावीरा, इनामगाँव, लोथल।
7. पवित्र स्थल जैसे– मन्दिर, स्तूप, चर्च और पत्थर से बनी आकृतियाँ।
8. समुद्री पुरास्थल जैसे– कावेरीपट्टनम, द्वारिका।

सर्वेक्षण की प्रक्रिया करो और सीखों के सिद्धान्त पर आगे बढ़ती है। सर्वेक्षण के दौरान किसी भी स्थान पर मिलने वाली वस्तु या तो नदी की होगी या बाहर से वहाँ लाई गयी होगी। इन दोनों की स्थितियों में वहाँ मानव का अस्तित्त्व निश्चित हो जाता है। एक तीसरे प्रकार से भी वस्तुएँ वहाँ लाई जा सकती है, उदाहरणार्थ मनुष्य द्वारा बनाये हुए उपकरण बाढ़ में लाई नदी द्वारा प्रवाहित होकर अन्यत्र कही जमा हो सकते है और वह मानव के अस्तित्व को अप्रत्यक्ष रूप से सूचित करते हैं। सर्वेक्षण की प्रक्रिया प्रायः वर्षा ऋतु के बाद संम्पादित की जाती है क्योंकि वर्षा के कारण पुरास्थल से मिट्टी का कटाव होता है, जिससे पुरावस्तुऐं सतह पर विखरी हुई दिखाई देने लगती है, जिसका अध्ययन कर टीले के अन्दर छिपी हुई संस्कृति उसके काल एवं विशेषताओं के विषय में जानकारी प्राप्त की जा सकती है। लेकिन सर्वेक्षण का सबसे उपयुक्त समय नवम्बर से मार्च तक का होता है क्योंकि

इस समय तापमान कम होने से धूप, थकान और बीमारी का कम खतरा रहता है। सर्वेक्षणकर्ता पुरास्थल से चल और अचल दोनों प्रकार के अवशेषों की खोज करता है। इस प्रकार की खोजों में पाषाण उपकरण और सबसे महत्वपूर्ण मिट्टी के बर्तनों का स्थान रहता है। नियमतः भारत में पिछले 5000 वर्षों से जहाँ कहीं भी मनुष्य ने निवास किया है। वहाँ पर मिट्टी के बर्तनों के टुकड़े प्राप्त किये जाते हैं। यद्यपि बाद के कालों में ताँबा, काँसा, पीतल, स्टील और प्लास्टिक के बर्तनों का प्रयोग होने लगा था।

मृदभाण्ड अपने उद्भव के साथ कालक्रम के अनुसार विभिन्न आकार–प्रकार के प्राप्त किये जाते है। मिट्टी के बर्तनों के सबसे महत्वपूर्ण प्रकारों में चित्रित धूसर मृदभाण्ड और उत्तरी काली चमकीली मृदभाण्ड परम्परा है। मिट्टी के बने पात्र एक बार भलीभाँति पकाये जाने पर दीर्घस्थायी होते है वे मानों चिर–स्थायी हो जाते हैं। धूप और वर्षा में हजारो वर्ष पडे रहने पर भी उनका स्वरूप उन पर पुता हुआ रंग और उन पर की गयी चित्रकारी नष्ट नहीं होती है। यही कारण है कि मृदभाण्ड या पात्रों के टुकड़े प्राचीन संस्कृतियों या सभ्यताओं के सर्वप्रमुख सूचक और प्रतीक स्वरूप होते हैं। इनमें प्राचीनता का स्वरूप बहुत अधिक काल तक सुरक्षित रहता है और इनसे मानवीय क्रियाकलापों के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश पड़ता है । इन अवशेषों का संकलन, जिनके माध्यम से प्रारम्भिक रूप से किया जाता है वह 'सर्वेक्षण' है 'सर्वेक्षण' एक सुव्यवस्थित वैज्ञानिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा पुरातत्त्ववेत्ता (खोजी प्रवृत्ति वाला इन्सान) किसी स्थान या क्षेत्र के सन्दर्भ में पुरातात्त्विक तथ्यों के बारे में सूचनाएँ एकत्रित करता है। हालांकि प्रारम्भ में पुरास्थलों की खोज भ्रमण/यात्रा के दौरान आकास्मिक रूप से की जाती थी किन्तु वर्तमान समय में सर्वेक्षण की कई विधियाँ प्रचलित हो गयी है, जिनको मुख्यतः दो भागों में बाट कर देखा जा सकता है–

1. परम्परागत विधि
2. वैज्ञानिक विधि

परम्परागत विधि के अन्तर्गत खोज की पहले से चली आ रही पद्धतियों को अपनाया जाता है, जिसमें आकस्मिक खोज सर्वाधिक प्रचलित है। इसके अलावा साहित्यिक श्रोत, स्थानीय विवरण और तलचिन्ह संकेत इत्यादि भी महत्वपूर्ण है।

4.4 आकस्मिक खोज

आकास्मिक खोज से तात्पर्य है कि अकस्मात या सहसा, कहीं पर यात्रा के दौरान, सड़क या रेल लाइन बनाने, कृषि कार्य करने तथा नहर की खुदाई इत्यादि के दौरान जब कोई पुरास्थल प्रकाश में आता है तो वह अकास्मिक खोज कहलाता है।पृथ्वी के ऊपर जब किसी सभ्यता या संस्कृति का विनाश होता है तो वह टीला का रूप धारण कर लेता है। इस टीले के अन्दर पुरावशेष दब जाते हैं तथा कुछ सतह के ऊपर बिखर जाते है। कभी–कभी वर्षा एवं प्राकृतिक क्रियाओं के कारण पृथ्वी के धरातल की मिट्टी हटने से नीचे की वस्तु सतह पर आ जाती है तथा निरन्तर बहता हुआ पानी अपने धरातल तथा पार्श्वों का उत्खनन करने लगता है, जिससे छोटी–बड़ी नलिकायें बन जाती है। जब से नलिकायें किसी पुरास्थल के ऊपर से बहती है तो नलिकाओं के अनुभागों तथा उनके धरातल के नीचे की वस्तुएँ धरातल पर आ जाती हैं।

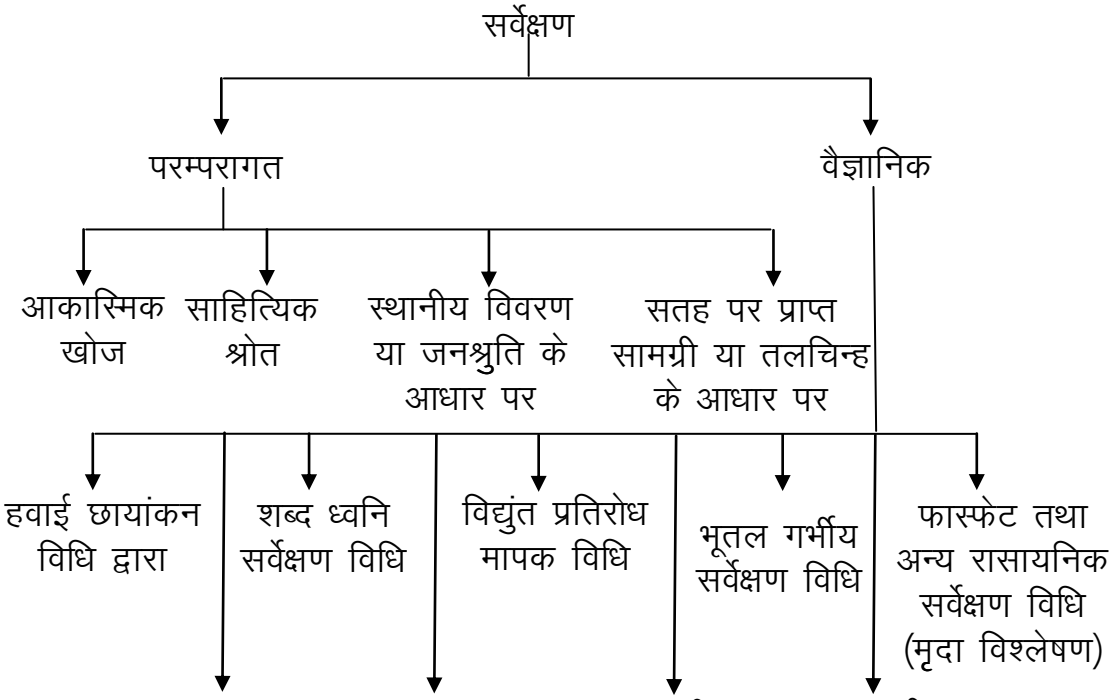

प्राकृतिक कारणों के अतिरिक्त मानवीय कारणों से भी पुरावशेष उद्घाटित हो जाते हैं तथा पुरास्थलों की पहचान हो जाती है। उदाहरण के लिए रेलवे लाइन के निर्माण की क्रिया के फलस्वरूप हड़प्पा और मोहनजोदड़ों नामक पुरास्थलों की खोज हुई थी। इसी तरह शारदा नहर की सहायक नहर की खुदाई के दौरान 'महदहा; नामक पुरास्थल की जानकारी प्राप्त हुई। काशी, राजघाट की खोज काशी स्टेशन के निर्माण के समय हुआ। बलिया (उ0प्र0) के खैराडीह पुरास्थल की जानकारी कुआं खोदते समय एक दीवाल का भाग दिखाई पड़ने से हुई। लखनेश्नरडीह (बलिया, उ0प्र0) में हलवाहे के हल के फाल से लगकर विष्णु की मूर्ति प्राप्त हुई थी। इसी प्रकार राजस्थान की 'बयाना निधि' की प्राप्ति हल जोतते हुए एक किसान के द्वारा हुई। संजयकुशवाहा द्वारा भी सन् 2013 में 'मुण्डहर' पुरास्थल का सर्वेक्षण आजमगढ़ के लालगंज में एक सहपाठी मित्र के घर जाने के दौरान किया गया था,जहाँ से मूर्तियाँ, मृदभाण्ड ईट, मन्दिर और संरचनात्मक अवशेषों का साक्ष्य प्राप्त हुआ था।

4.5 साहित्यिक स्रोत

साहित्य में प्राचीन नगरों एवं शहरों के नामोल्लेख के आधार पर भी पुरास्थलों की खोज का कार्य किया जाने लगा। उदाहरण के लिए रामायण और महाभारत में वर्णित पुरास्थलों जैसे–हस्तिनापुर, कौशाम्बी, अयोध्या, श्रृंग्वेरपुर, द्वारिका इत्यादि पुरास्थलों की खोज पुरातत्त्वविदों द्वारा की गयी है। प्रख्यात पुराविद् प्रो0 बी0बी0 लाल द्वारा महाभारत में वर्णन के आधार पर ही हस्तिनापुर पुरास्थल की खोज एवं उत्खनन का कार्य करवाया गया । ह्वेनसाग के यात्रा विवरण के आधार पर कनिंघम ने अनेक पुरास्थलों की खोज की। पहले उन्होंने विशेषतः बौद्ध स्थलों की खोज उनके यात्रा मार्गों के आधार पर की। इसी प्रकार पाली ग्रन्थ के आधार पर राजगीर में अनेक स्थानों की पहचान की गयी। इसी प्रकार पौराणिक ग्रन्थों और उनके विवरणों के सहारे अनेक पुरास्थलों की पहचान की गयी, जैसे सीतापुर में नीमसार, कानपुर के बिठूर में सृष्टि के उदय का स्थान जहाँ से मनु–सतरुपा ने सृष्टि का

प्रारम्भ किया था। इसी प्रकार साहित्यिक विवरणों के साथ–साथ अभिलेखों, शिलालेखों, स्तम्भलेखों, की प्राप्ति के आधार पर भी पुरास्थल की खोज की जाती है जैसे सोहगौरा (गोरखपुर) सन्नाती (कर्नाटक) इत्यादि।

4.6 जनश्रुतियों के आधार पर

किसी स्थान विशेष के सन्दर्भ में स्थानीय श्रोतों जैसे–लोक गीत, बिरहागीत, लोरकीगायन एवं लोककथा इत्यादि से भी सूचनाएँ प्राप्त होती है। इन सूचनाओं के आधार पर पुरास्थल की खोज कर पुरातात्त्विक सामग्रियों को संग्रहीत किया जाता है। उदाहरणार्थ बलिया उत्तर प्रदेश के बसन्तपुर गाँव में मझरी लाल का वर्णन और पुरावशेष के चिन्ह भी। इसी प्रकार कभी–कभी स्थानीय लोगों से वार्तालाप के दौरान भी पुरास्थल की जानकारी मिल जाती है। उदाहरण के लिए वर्ष 2014 में मेरे स्वयं के सर्वेक्षण के दौरान एक ग्रामीण ने मुझे बताया चन्दौली, उत्तर प्रदेश के देवरापुर गाँव में महाभारत काल से सम्बन्धित मूर्तियाँ बिखरी पड़ी है और कुछ लोगों द्वारा उठा के ले जाई जा रही है। उस पुरास्थल पर जाने के बाद ईंट, मृदभाण्ड और टुटी–फूटी मूर्तियों के साक्ष्य प्राप्त हुए।

4.7 सतह पर प्राप्त सामग्री

सर्वेक्षण के दौरान कही पर प्राकृतिक सतह से ऊँची सतह होती है तो पुरातत्त्वविद्की दृष्टि वहाँ पर पहुँच जाती है। वहाँ पर जाने पर कुछ सामग्रियाँ सतह के ऊपर बिखरी प्राप्त होती है तो वह पुरास्थल की श्रेणी में आ जाता है। खैराडीह पुरास्थल, बलिया, उत्तर प्रदेश में स्थित है खुदाई वी0पी0 सिंह (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) के द्वारा करवायी गयी थी, वहाँ घाघरा की ओर बने कटाव से मिट्टी के बर्तनों के टुकड़े नीचे से ऊपर तक दिखाई दे रहे थे। इससे पुराविदों का ध्यान इस पुरास्थल की ओर गया और इसके पुरातात्त्विक महत्व को उद्घाटित किया गया। एक संकेत और प्रायः दिखाई देता है कि जहाँ पर पुरातन सभ्यता के अवशेष भूमि में छिपे होते है, वहाँ की फसल कमजोर, विरल और पीली होती है। इस आधार पर भी पुरास्थल की खोज की जाती है। 'करजरा कोट' नामक पुरास्थल,

चन्दौली, उत्तर प्रदेश में स्थित है। इस पुरास्थल की खोज टीले को एक तरफ से खेती के लिए किसानों द्वारा काटे जाने के बाद बने अनुभाग में फसें मृदभाण्डों के दिखाई देने से हुई है। इस पुरास्थल को स्वयं द्वारा 1014–16 ईस्वी में किये गये सर्वेक्षण के दौरान हुई थी।

4.8 वैज्ञानिक विधि

इस विधि से वैज्ञानिक उपकरणों के प्रयोग से पुरास्थलों की खोज की जाती है। आजकल पुरास्थलों की खोज वैज्ञानिक विधियों से की जाने लगी है लेकिन यह विधि काफी खर्चीली और तकनीकि विशेषता के कारण दुरूह भी है। यद्यपि समय और श्रम की दृष्टि से देखा जाय तो काफी उपयोगी सिद्ध होती है। प्रमुख वैज्ञानिक विधियों का विवरण निम्नवत् है–

4.8.1 हवाई छायांकन

इस विधि द्वारा पुरास्थलों की खोज के लिए हवाई जहाज में लगे कैमरे के माध्यम से किसी स्थान का छायांकन किया जाता हैं आजकल उपग्रहों के प्रयोग से इसकी उपयोगिता और बढ़ गयी है। इस प्रणाली में उपग्रह (लैण्डसेट) में लगे स्कैनर पृथ्वी की सतह से परारक्त रेडियेशन के संकेत अंकीत करते है और उन्हें विद्युतीकृत करके छायाचित्रों में बदल देते हैं। हवाई छायांकन का पहला प्रयोग गुब्बारे के माध्यम से हुआ था। इसके लिए सर हेनरी वेलकम ने इस विधा के प्रयोग से मेसोपेटामिया तथा मिश्र के अनेक पुरास्थलों का हवाई सर्वेक्षण किया था। राजस्थान में बहने वाली लुप्त सरस्वती नदी का पता भी इसी विधि से लगाया गया है।

पुरातत्त्व में इस विद्या का प्रयोग करने वाले विद्वानों में ओ0जी0एस0 क्रफर्ड का नाम महत्वपूर्ण है। क्रफर्ड को प्रथम विश्व युद्ध (28 जुलाई 1914–11 नवम्बर 1918) में अंग्रेजी सेना की पश्चिमी कमान में गुप्तचरी से सम्बन्धित छायांकन के विश्लेषण करने के लिए नियुक्त किया गया था। विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद क्रफर्ड ने हवाई छायांकन सम्बन्धी अपने ज्ञान का प्रयोग पुरातत्त्व के क्षेत्र में किया। क्राफर्ड ने हवाई जहाज से शैर्षिक चित्र खीच कर इग्लैण्ड एवं ईराक के प्राचीन अज्ञात अनेक स्थानों

के विषय में मिट्टी के रंग, प्राचीन टीलों की छाया तथा खड़ी फसलों की हरीतिमा के अन्तर के आधार पर पता लगाने में सफलता प्राप्त की थी। इस अविष्कार को उन्होंने नया नाम प्रदान किया जैसे प्रतिबिम्वित संकेत पुरास्थल, मृदा संकेत और शष्य चिन्ह/संकेत ।

भारत के सन्दर्भ में हवाई छायांकन का प्रयोग सर्वप्रथम मोहनजोदड़ों के छायांकन से प्रारम्भ किया गया। इन चित्रों के अध्ययन के आधार पर ज्ञात पुरास्थलों के आस–पास जो छोटे–छोटे अन्य पुरास्थल होते है उन्हें सेटेलाइट पुरास्थल कहा जाता है। हवाई छायांकन के लिए सबसे उपयुक्त समय प्रातःकाल या संध्या का समय होता है, जब लम्बी छाया पड़ने लगती है। इसमें भी सुबह का समय अधिक उपयुक्त होता है। इस समय धरातल अपेक्षाकृत नम होता है इसलिए रंग अधिक अच्छी तरह से उभरते है। भारत में हवाई छायांकन और उपग्रहीय छायांकन का कार्य नेशनल रिमोट सेन्सिंग एजेन्सी, हैदराबाद के सहयोग से सम्पादित होता है।

4.8.2 लौह–श्लाका विधि

पुरावशेषों के खोज के लिए भूमि के ऊपरी भाग से विभिन्न आकार प्रकार की लौह–शलाकाओं को भूमि में प्रवेश करने की पद्धति लौह–शलाका विधि कहलाती है। इसका उपयोग किसी पुरास्थल की विशेष जानकारी यथा जमाव की मोटाई तथा धरातल के नीचे की संरचना आदि का अनुमान लगाने में किया जा सकता है। शैलाश्रय अथवा पहाड़ी क्षेत्रों जहाँ जमाव बहुत कम होते हैं। इस विधि का अपेक्षाकृत अधिक महत्व है। इनका उपयोग उन स्थलों में किया जा सकता है जहा धरातल के नीचे इमारतों के मिलने की सम्भावना होती है। इसके लिए लौहे की एक छड़ जिसकी मोटाई 5/8'' तथा लम्बाई तीन से चार फीट हो उपयोग में लायी जाती है। इसका आकार प्रायः अंग्रेजी के टी–अक्षर की तरह होता है जिसका ऊपरी सिरा मोटा तथा निचला सिरा नुकीला होता है। इसका प्रयोग सावधानी से करना चाहिए, जिससे छड़ को धरातल में गाड़ने से किसी वस्तु को नुकसान न हो। छड को भूमि के अन्दर धँसाते समय जब कोई अवरोध उत्पन्न होता है तो वह पुरास्थल की उपस्थिति का संकेत होता

है और यदि कोई अवरोध नहीं आता है तो यह अनुमान लगाया जाता है कि वहाँ पर मानव क्रियाकलाप के कोई अवशेष उपस्थित नहीं है। इस तरह से यह विधि उत्खनन पूर्व पुरावशेषों की खोज के लिए अत्यधिक उपयोगी है।

4.8.3 शब्द–ध्वनि सर्वेक्षण विधि

इस विधि का प्रयोग डॉ0 कारविन द्वारा नवपाषाणिक स्थलों की पहचान में किया गया था। इस विधि के अनुसार लकड़ी के बने धुरमुस को पृथ्वी पर पटका जाता है तथा उससे जो ध्वनि निकलती है उसको ध्यानपूर्वक सुनते है। खोखले, आवासीय–स्थलों तथा परती पड़े अथवा आवास के लिए प्रयोग में नहीं लाये गए स्थलों से ध्वनियों में अन्तर होता है। उनकी ध्वनियों को पहचानने के लिए बहुत अभ्यास की आवश्यकता होती है। आम तौर पर देखा जाय तो जब भूमि पर आघात करने पर ध्वनि में भारीपन हो तो अनुमान लगाया जाता है कि भूमि के अन्दर प्राचीन अवशेष विद्यमान है।

4.8.4 धातु संसूचक यंत्र

भूमि के अन्दर दबे पड़े धातु के अवशेषों का पता लगाने के लिए धातु संसूचक यंत्र का प्रयोग किया जाता है। समाधियों एवं मकबरों इत्यादि की खोज में भी धातु संसूचक यंत्र का प्रयोग अधिक सफलता के साथ किया जा सकता है। इसका सबसे महत्वपूर्ण उपयोग धातु–युगीन स्थलों की पहचान के लिए किया जा सकता है। इस विधि की सबसे बड़ी कठिनाई है कि यह नवीन और प्राचीन धातु के वस्तुओं में अन्तर नहीं कर पाता है। इसलिए इस यंत्र का प्रयोग उत्खनन के दौरान धातु की वस्तुओं की पहचान में सर्वाधिक उपयोगी हो सकता है।

4.8.5 विद्युत प्रतिरोध मापक यंत्र

इस यत्र का उपयोग खनिज विभाग अथवा तेल सर्वेक्षण विभाग तथा भवन एवं सड़क निर्माण विभाग के लोगों द्वारा किया जाता है। उन्हीं लोगों के सहयोग से पुरस्थलों की खोज के लिए भी इस यंत्र का प्रयोग किया जाता है। यह विधि इस सिद्धान्त पर आधारित है कि सभी पदार्थ, पत्थर, गिट्टी, ईट आदि कम अथवा अधिक मात्रा में पानी का अवशोषण करते हैं। जिनमें खनिज लवण होता हैं ऐसे

जमाव जो अधिक सरन्ध्र/छिद्रयुक्त (Porus) होते हैं। उसमें पानी का अवशोषण अधिक होता है। फलतः विद्युत क्षेत्रों के जमाव में मानवीय अथवा नैसर्गिक कारणों से परिवर्तन हुआ है उसमें जल की मात्रा अधिक होती है। फलतः विद्युत का प्रवाह भी तीव्र होता है। अधिक या कम अवरोधक क्षेत्र का एक कन्टूर बनया जा सकता है तथा उसके अनुसार सर्वेक्षण की योजना बनाई जा सकती है (वर्मा, 2010 : 37)। इस विधि में एक निश्चित अन्तराल पर कई इलेक्ट्रोड़ जमीन के अन्दर स्थापित किये जाते हैं। इस विधि में कम से कम चार इलेक्ट्रोडों को भूमि के अन्दर धसांया जाता है। जिस इलैक्ट्रोड द्वारा वोल्टामीटर में विद्युत–धारा अन्दर प्रवेश करती है उसे धनात्मक इलेक्ट्रोड या कैथोड़ कहते हैं। किसी विद्युत परिपथ में दो बिन्दुओं के बीच का विभवान्तर वोल्टामापी नामक यंत्र से मापा जाता है। इस विधि में यंत्रों के सफलतापूर्वक संचालन के लिए कम से कम दो व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ती हे। एक व्यक्ति विद्युत के श्रोत के पास खड़ा होकर विद्युत धारा प्रवाहित करता है और दूसरा व्यक्ति विद्युत के विभव की माप करता है जमीन के अन्दर विद्यमान पुरावशेषों के विद्युत प्रवाह में प्रतिरोध को मापकर किसी पुरास्थल का मानचित्र अथवा रेखाचित्र तैयार किया जा सकता है।

इस विधि की अपनी कुछ सीमाएँ भी है। ये उन स्थलों पर सम्यक रूप से काम नहीं करते जहाँ धरातल के नीचे के जल का तल बहुत ऊपर होता है। जहाँ पर धरातल की मिट्टी बराबर पानी में डुबी रहती है, जहाँ पर गरम तथा सूखा मौसम बहुत लम्बा होता है अथवा मिट्टी में बालू की मात्रा इतनी अधिक हो कि उसमें पानी रूक ना पाता हो।

4.8.6 चुम्बकत्वमापी विधि

चुम्बकत्वमापी वह यंत्र है जिसके माध्यम से पृथ्वी के चुम्बकीय क्षेत्र की दिशा एवं तीव्रता मापी जाती है। पुरातात्त्विक वस्तओं के सर्वेक्षण के लिए भी इस यंत्र का प्रयोग पुरातत्त्व में किया जाने लगा है। इस विधि का उपयोग मूलतः खनिज धातुओं तथा पेट्रोलियम पदार्थों की खोज के लिए किया जाता है। इस विधि के अनुसार, जिस क्षेत्र में पुरावशेष अधिक मात्रा मे मिलते हैं, उसमें गुरूत्वार्कषण की तीव्रता अधिक होती है। इस यंत्र से पृथ्वी के अन्दर किसी क्षेत्र की गुरूत्वाकर्षण की तीव्रता की माप की जाती है। इस यंत्र के उतार–चढ़ाव युक्त रेखाकनों की व्याख्या करके पुरावशेषों के अस्तित्व का अनुमान लगाया जा सकता है। किसी पुरास्थल पर छिपी मुद्रानिधि, ताम्रनिधि इत्यादि के अस्तित्व का आसानी से इस विधि के माध्यम से पता लगाया जा सकता है। इस विधि की सबसे अधिक कठिनाई यह है कि यह धातु के प्रति अत्यधिक संवेदनशील होता है, अतः जो व्यक्ति इस यंत्र का प्रयोग कर रहा होता है, यदि उसके शरीर पर किसी प्रकार की धातु है तो वह भी यंत्र को प्रभावित कर देती है। इस विधि की एक और सबसे बड़ी कमी यह है कि यह सतह से पाँच फिट से अधिक गहराई की

वस्तुओं को नहीं जाँच पाता है। इस विधि का सर्वप्रथम प्रयोग 1947 में सेनलिस नामक स्थान में भूमि के अन्दर धातु की वस्तुओं का पता लगाने के लिए किया गया था।

4.8.7 भू–गर्भीय रडार (Ground Probing Radar)

इस वैज्ञानिक विधा में एक एनटेना के द्वारा विद्युत चुम्बकीय स्पन्दन भूमि के अन्दर सम्प्रेषित किये जाते है जिसका प्रतिबिम्ब पुनः एनटेना के द्वारा प्राप्त की जाती है। इसे रंगीन मॉनिटर पर देखा जा सकता है। यह प्रतिबिम्ब कई प्रकार की गतियों में आती है क्योंकि ये विविध प्रकार के माध्यमों/संरचनाओं से प्रभावित होती है। इन पर छाइयों (प्रतिबिम्ब) की व्याख्या एवं विश्लेषण करके उन संरचनाओं को पहचाना जा सकता है। रडार के द्वारा निर्मित संरचनाओं को त्रिविमीय स्वरूप में भी देख सकते हैं जैसा कि उत्खनन अनुभाग में माप की जाती है। यह विधि इतनी महत्वपूर्ण होते हुए भी अभी पूर्णतया विकसित नहीं है। लेकिन आने वाले तकनीकी युग में इस वैज्ञानिक विधा का विकाश सम्भव होगा और पुरातात्त्विक अध्ययन को आधार मिलेगा।

4.8.8 मृदा विश्लेषण /फॉस्फेट विश्लेषण

मानव जब किसी स्थान पर अपना आवास बनाता है, पशुओं को पालता है तथा अपने क्रिया कलाप को सम्पादित करता है। तव उसके परिणामस्वरूप वहाँ की मिट्टी में प्राकृतिक रूप से विद्यमान फास्फोरस, नाइट्रोजनएवं कैल्शियम की मात्रा में वृद्धि हो जाती है। ऐसे स्थान की मिट्टी के रासायनिक विश्लेषण करके पुरास्थल की पहचान की जा सकती है। खुले स्थान पर स्थित पुरास्थलों पर भी फास्फोरस विद्यमान होने की सम्भावना रहती है, इसलिए फॉस्फोरस के विश्लेषण के माध्यम से उत्खनन के बिना ही पुरास्थलों की खोज की जा सकती है। इस विधि की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि वहाँ की मिट्टी कैसी है, क्योंकि बहुत से रसायनों का क्षरण जल के माध्यम से होता है। इसलिए मृदा विश्लेषण या फास्फेट विश्लेषण के समय क्षरण की समस्या को ध्यान में रखना आवश्यक हो जाता है।

4.8.9 सागरतलीय सर्वेक्षण

सागर तल के सर्वेक्षण के आधार पर भी पुरावशेषों का पता किया जाता है, क्योंकि प्राचीन भारत का व्यापार और वाणिज्य का माध्यम स्थलमार्ग के साथ–साथ जलमार्ग से भी होता था। कभी–कभी बड़े–बड़े जहाज अत्यधिक माल लदे होने अथवा समुद्री लुटेरों द्वारा आक्रमण कर लूटपाट के बाद डूबो दिया जाता था जिससे जहाज के साथ–साथ उस पर

लदी सामग्री तथा व्यापारी भी मृत कर जाते थे, जिसके अवशेष समुद्र की तलहटी में बैठ जाते थे। पुरातत्त्व में समुद्री पुरातत्त्व के द्वारा इस प्रकार के अवशेषों को खोज निकालने का प्रयास उन्नीसवीं शताब्दी में एक ऐसी घटना के बाद शुरू किया गया, जब यूनानी नाविकों को, जिन्होंने टयूनीशिया के निकट एक टापू में तूफान से निजात पाने के लिए शरण ली थी, एक यूनानी मूर्ति वहाँ मिली। पुनः एक गोताखोर ने उसी सागर तट के महदिया नामक स्थान पर 130 फिट गहरे समुद्र तल में विद्यमान विशाल तोपों को देखने का दावा किया था। बाद में 1908–1913 एवं 1949 ईस्वी में समुद्री सर्वेक्षण अभियान द्वारा यूनानी कला के 13–13 फिट ऊँचे 60 भव्य काँसे और संगमरमर के अनेक कलात्मक अवशेष, मूर्तियाँ, कलश इत्यादि प्राप्त हुए। ये सारे अवशेष अतीत में एक रोमन नौका के जलमग्न हो जाने से सागरतल में पहुँच गये थे समुद्री तल में सर्वेक्षण में बेथिस्केपलस नामक यंत्र के प्रयोग से पुरावशेषों के संकलन में बहुत अधिक सहायता मिली है। भारत में गुजरात प्रान्त के जामनगर जिले में बैठ द्वारिका द्वीप के पास पुरावशेषों की खोज सागरतल सर्वेक्षण का ही परिणाम है।

4.9 खोजक दल के साज–सामान/सर्वेक्षणकर्त्ता के लिए आवश्यक वस्तुएँ–

पुरावशेषों के सर्वेक्षण या खोज के लिए खोजक दस्ते या खोजक पुराविद के पास कुछ साज–सामान की आवश्यकता होती है, जिसका विवरण निम्नवत् है–

1. भारतीय सर्वेक्षण विभाग का टोपो शीट (Topo Sheet)
2. दिशा सूचक यंत्र/कम्पास (Campass)
3. मापन के लिए टेप, स्केल और एबनी लेविल
4. भूवैज्ञानिक हथौड़ा (Geological Hammer) और छोटी गैंती (Small pickaxe)
5. डायरी अथवा नोटबुक
6. लिफाफे, कपड़े या मजबूत प्लास्टिक की थैलिया।
7. पुरास्थल कार्ड एवं धागा/डोरा
8. कैमरा
9. पानी की बोतल
10. सभी वस्तुओं के रखने के लिए एक बड़ा झोला।

4.8.10 सारांश

इस प्रकार उपर्युक्त वर्णित विधियों के माध्यम से पुरावशेषों एवं पुरास्थलों की खोज का कार्य किया जाता है। आगे आने वाले समय में विज्ञान के विकास के साथ ही साथ सर्वेक्षण की और नयी पद्धतियाँ विकसित होगी, जो पुरातत्त्व की प्रगति में सहायक होगी। पुरातत्त्वेत्ता पुरावशेषों का संग्रह प्रायः दो रूपों में करते हैं। प्रथम सोद्देश्य और दूसरा निरूद्देश्य। प्रथम प्रकार के पुरातत्त्ववेत्ता मात्र उन वस्तुओं का संकलन करता है जो उस समय उसकी दृष्टि को आकर्षित करते है। इसमें यदि दो व्यक्ति पुरावस्तुओं का संकलन एक ही स्थान से करते हैं तो उनके संकलनों में अन्तर होगा क्योंकि इसमें व्यक्तिगत दृष्टिकोणों का विशेष महत्व होता है। लेकिन दूसरा प्रकार एक निश्चित आकार के वर्ग अथवा वृत्त में प्राप्त सभी पुरावस्तुओं के संकलन पर जोर देता है। इस प्रक्रिया में पुरास्थल को सुविधानुसार समान वर्गों या वृत्त में विभाजित कर लेते हैं तथा उसमें से कुछ वर्गों से सभी पुरावशेषों को संकलित कर लेते हैं। वर्तमान समय में शोध के विषय के अनुसार भी पुरावशेषों का संकलन किया जाने लगा है। यदि किसी का शोध कार्य कला के सम्बन्धित है तो वह कलात्मक पक्षों से सम्बन्धित पुरावशेषों का संकलन एक निश्चित क्षेत्र में करता है।

4.8.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. अग्रवाल, डी0पी0 .1984. *द आर्कियोलॉजी ऑफ इण्डिया.* सेलेक्ट बुक सर्विस सिन्डीकेटः नई दिल्ली।
2. जैन, वी0के0 .2006. *प्रीहिस्ट्री एण्ड प्रोटोहिस्ट्री ऑफ इण्डियाः एन अप्रेजल.* डी0के0 प्रिन्टवर्ल्डः न्यू दिल्ली।
3. सर मॉर्टिमर व्हीलर, 1990 'पृथ्वी से पुरातत्त्व' हिन्दी माध्यम निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय।
4. एच0 डी0 सांकलिया,1969. पुरातत्त्व परिचय', डेक्कन कालेज, पूना।
5. के0 राजन, 2002 'आर्कियोलॉजीः प्रिंसिपल एण्ड मेथड्स,' मनू पाथ्पिक्कम, तंजौर।
6. आर0 के0 वर्मा, 'क्षेत्रीय पुरातत्त्व' इलाहाबाद
7. वी0 के0 पाण्डेय, 2017 'पुरातत्त्व मीमांसा', शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद।
8. पाण्डेय, जे0एन0 2008. *पुरातत्त्व विमर्श.* प्राच्य विद्या संस्थानः इलाहाबाद।

9. भट्टाचार्य, डी0के0 2007. *भारतीय प्रागैतिहास की रूपरेखा.* पलका प्रकाशनः दिल्ली।
10. गोयल, श्रीराम. 2008. *प्रागैतिहासिक मानव और संस्कृतियाँ.* विश्वविद्यालय प्रकाशनः वाराणसी।
11. शर्मा, जी0आर0 1985. *भारतीय संस्कृतिः पुरातात्विक आधार, नई दिल्ली* : नेशनल पब्लिशिंग हाउस।
12. कुशवाहा, संजय कुमार, 2016. *प्रागैतिहासिक संस्कृति के विविध पक्ष,* वाराणसीः कला प्रकाशन।
13. जायसवाल, विदुला. 1989. *भारतीय इतिहास का मध्य–प्रस्तर युग.* स्वाती प्रकाशनः दिल्ली।
14. दुबे, अनिल कुमार .2005. *मध्यगंगा घाटी में अधिवास प्रक्रिया* (जौनपुर जनपद के विशेष सन्दर्भ में) इलाहाबादः स्वाभा प्रकाशन।
15. मिश्रा, वी0डी0 1997. *सम ऑसपेक्ट्स ऑफ इण्डियन आर्कियोलाजी.* प्रभात प्रकाशनः इलाहाबाद।

4.8.12 बोध प्रश्न

- पुरातात्विक स्थलों के अन्वेषण की विधियों पर निबन्ध लिखिए।
- आकास्मिक खोज पर टिप्पणी लिखिए।
- जनश्रुतियों के आधार पर स्थलों के सर्वेक्षण पर प्रकाश डालिए।
- अन्वेषण की वैज्ञानिक विधियों की विवेचना कीजिए।
- खोजक दल के साज–सामान/सर्वेक्षणकर्त्ता के लिए आवश्यक वस्तुओं का विवरण दीजिए।

इकाई–5 पुरातात्विक स्थलों के उत्खनन की विधियाँ

इकाई की रूपरेखा

5.1 प्रस्तावना

5.2 उद्देश्य

5.3 पुरातात्विक उत्खनन के कारण

5.4 उत्खनन की ऐतिहासिकता

5.5 पुरातात्विक उत्खनन का आधार

5.6 पुरातात्विक उत्खनन की योजना बनाने की विधि

- 5.6.1 परीक्षणार्थ खोदी हुई खाईयाँ
- 5.6.2 क्षेत्रोत्खनन
  - 5.6.2.1 नियंत्रण गर्त
  - 5.6.2.2 ग्रिड प्रणाली
- 5.6.3 मौलिक खाईयाँ
- 5.6.4 डेटम बिन्दु
- 5.6.5 डेटम लाइन
- 5.6.6 समोच्च रेखा

5.7 खुदाई की अवधारणायें

- 5.7.1 स्तरीकरण
- 5.7.2 व्याख्या के लिए स्तरीकृत संदर्भों का मेल
- 5.7.3 चरण और चरणबद्धता

5.7.4 व्यवहार में उत्खनन

5.7.5 एकल संदर्भ रिकॉर्डिंग प्रणाली

5.7.6व्यवहार में स्तरीकृत उत्खनन

5.7.7उत्खनन की भौतिक कार्यप्रणाली

5.7.8उत्खनन में आम त्रुटियां

5.8प्राप्त वस्तुएं तथा शिल्पकृतियों की खुदाई

5.9खुदाई करनेवाले यन्त्र

5.10कार्यबल का संगठन

5.11उत्खनन की विधियाँ

5.11.1 लम्बवत् उत्खनन

5.11.2 क्षैतिज उत्खनन

5.12 वृत्तपाद या चतुष्पाद उत्खनन

5.13 परीक्षणात्मक उत्खनन तथा विकासात्मक उत्खनन का मूल्यांकन

5.14सारांश

5.15कुछ उपयोगी पुस्तकें

5.16 बोध प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

उत्खनन पुरातात्त्विक तत्व संकलन के लिए उपयोग में लायी जाने वाली सर्वप्रमुख वैज्ञानिक प्रक्रिया है, जिसका आधार स्तरीकरण है इस प्रक्रिया के अन्तर्गत पुरास्थल के जमावों को क्रमबद्ध रूप से खोदकर मिट्टी एवं अन्य भौतिक सामग्रियों को निकालकर उनके अध्ययन और विश्लेषण को संग्रह करते है। पुरातात्त्विक उत्खनन का उद्देश्य मानव के सम्बन्ध में ऐसे तथ्य को इकट्ठा करना है, जिससे मानव के समग्र इतिहास की संरचना की जा सके। पुरातात्त्विक उत्खनन को भी वस्तुतः एक प्रकार से विनास कार्य कहा जा सकता है क्योंकि उत्खनन के पश्चात् पुरास्थल नष्ट हो जाता है। अतः उत्खनन कार्य अत्यन्त सावधानीपूर्वक किया जाता है और उन प्राप्त सामग्रियों का आवश्यक विश्लेषण करके प्रतिवेदन या रिपोर्ट यथाशीघ्र प्रकाशित किया जाता है।

5.2उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान सकेंगे–

- पुरातात्त्विक उत्खनन के कारण को
- उत्खनन की ऐतिहासिकता के विषय में
- खुदाई की अवधारणाओं को
- पुरातात्त्विक सिद्धांत के विषय में
- उत्खनन की विधि के प्रकारों को

5.3 पुरातात्त्विक उत्खनन के कारण

सर्वेक्षण की प्रक्रिया के उपरान्त प्राप्त पुरास्थलों एवं पुरावशेषों की महत्ता के आधार पर, उस पुरास्थल के सम्पूर्ण सांस्कृतिक इतिहास और मानवीय जीवन–यापन की पद्धति को समझने के लिए पुरातत्त्ववेत्ता द्वारा उत्खनन का कार्य करवाया जाता है। पुरातात्त्विक उत्खनन एक अत्यन्त जटिल तथा विघटनात्मक क्रिया है क्योंकि जब किसी पुरास्थल पर उत्खनन कार्य

किया जाता है तो उसके स्तर क्रम को पुनः उस रूप में प्रतिस्थापित करना बहुत ही कठिन कार्य है या हम कह सकते है कि असम्भव है। इसलिए किसी भी उत्खनन को प्रारम्भ करने से पूर्व यह जानना आवश्यक होता है कि हमारे उत्खनन का उद्देश्य क्या है? उत्खनन के द्वारा हम किस प्रकार की नई जानकारी की अपेक्षा करते है अथवा किस समस्या के समाधान की पूर्ति करना चाहते हैं, इसका स्पष्ट ज्ञान होना चाहिए। क्योंकि यदि उनका सम्यक् प्रकार से उत्खनन तथा अभिलेखन नहीं किया गया तो उनसे जो भी जानकारी होती है वह समस्याग्रस्त या अधूरी रह जाती है।

पुरातात्त्विकउत्खनन के कारणों को निम्न प्रकार से निरूपित किया जा सकता है –

1. **शोध के लिए उत्खनन** –इसके अन्तर्गत वे उत्खनन आते हैं जो किसी विशेष शोध परियोजना के सन्दर्भ में पुरातात्त्विक या ऐतिहासिक समस्याओं के समाधान के लिए किया जाता है। वर्तमान काल में अधिकतर उत्खनन शोध के लिए होते हैं।
2. **विकास कार्य जनित उत्खनन** –आजकल विकास कार्यों से सम्बन्धित उत्खनन जैसे– नगर–विन्यास, सड़क, शहर आदि परियोजनाओं के चलते पुरावशेषों को रिकार्ड करके अधिक से अधिक प्रमाण इकट्ठा करने के लिए आकस्मिक उत्खनन किया जाता है। इस प्रकार का उत्खनन कार्य जल्दी–जल्दी और विशेष परिस्थितियों में भी करना पड़ता है। उदाहरण के लिए कानपुर नगर के पास गंगा नदी के दाहिने तट पर स्थित जाजमऊ टीले का उत्खनन उत्तर प्रदेश पुरातत्व के निर्देशन में जल्दी–जल्दी किया गया है, क्योंकि पुल एवं सड़क निर्माण के बाद इस टीले का अस्तित्व समाप्त होने की संभावना थी।
3. **बचाव उत्खनन** –कभी–कभी प्राकृतिक कारणों से भी पुरास्थल नष्ट हो जाते है तो ऐसे स्थलों का उत्खनन करके पुरातात्त्विकतत्वों का संकलन किया जाता है, जैसे महाबलीपुरम् में सुनामी के पश्चात् मंदिरों का एक समूह प्रकाश में आया इसके तुरन्त बाद यहाँ उत्खनन करवाया गया। इसी तरह काशी हिन्दू विश्वविद्यालय (बी.एच.यू) द्वारा वाराणसी जिले में अनेई नामक स्थल का उत्खनन किया गया।

पुरातत्त्व विज्ञान में उत्खनन का सर्वाधिक प्रयोग होता है तथा इसे इसी के साथ सम्बन्ध रखने के लिए जाना जाता है। इस सन्दर्भ में इसे पुरातात्त्विक अवशेषों को उजागर, संग्रहीत

तथा अभिलेखित करने के लिए जाना जाता है।इस विधि का प्रयोग किसी स्थान के अध्ययन के लिए प्रयोग की गयी तकनीक के उदाहरण के रूप में भी किया जाता है। इस अर्थ में, उत्खनन को

कभी–कभी इसमें भाग लेने वालों के द्वारा अति सरल रूप में ''खुदाई '' से भी इंगित किया जाता है। इस तरह का स्थानिक उत्खनन एक विशिष्ट पुरातात्त्विक स्थल से सम्बंधित होता है तथा कई वर्षों तक चल सकता है।

उत्खनन के प्रयोग में बहुत सी विशिष्ट तकनीकें उपलब्ध हैं तथा इनमें से प्रत्येक खुदाई के अपने गुण हैं, संसाधनों और अन्य व्यावहारिक मुद्दों के कारण पुरातत्त्वविद अपनी इच्छानुसार जब चाहें व जहां चाहें उत्खनन नहीं कर पाते। इन बाधाओं का अर्थ यह है कि कई ज्ञात स्थलों के उत्खनन को जान–बूझकर छोड़ दिया गया है। इसका उद्देश्य इन्हें आने वाली पीढ़ियों के लिए सुरक्षित रखने के साथ–साथ इनके द्वारा इसके आस–पास रहने वाले समुदायों के लिए इनकी भूमिका भी है। कुछ मामलों में यह आशा भी व्यक्त की जाती है कि प्रौद्योगिकी सुधार के द्वारा बाद में इन्हें पुनःपरीक्षण किये जाने में सहायता मिलेगी तथा उससे प्राप्त परिणाम अधिक लाभकारी होंगे। किसी पुरातात्त्विक स्थल पर खुदाई तथा प्राप्त पुरावशेषों की रिकॉर्डिंग को ही उत्खनन कहते हैं।

पुरातात्विक अवशेषों की उपस्थिति या अनुपस्थिति को रिमोट सेंसिंग, उदाहरण के लिए जमीन के भीतर देख सकने वाली रडार के द्वारा उच्च संभावना के साथ बताया जा सकता है। वास्तव में, पुरातात्विक स्थल के विकास के विषय में ऊपरी जानकारी तो इन तरीकों से प्राप्त हो सकती है परन्तु सूक्ष्म विशेषताओं को जानने के लिए अस्त्रों के उचित उपयोग के साथ किये गए उत्खनन की ही आवश्यकता होती है।

5.4 उत्खनन की ऐतिहासिकता

उत्खनन की तकनीकों का विकास खजाने खोजने के समय से ही होता आ रहा है, जबकि अन्वेषक किसी स्थल पर मानवीय गतिविधियों के द्वारा पड़ने वाले सम्पूर्ण प्रभाव को जानने का प्रयास करते थे, साथ ही इस स्थल का दूसरे स्थलों के साथ–साथ जिस भूदृश्य में यह स्थित है, उसके साथ सम्बन्ध को जानने का भी प्रयास होता था।

इसका इतिहास खजानों तथा कलाकृतियों की एक अपरिपक्व खोज से प्रारंभ होता है, जो ''दुर्लभ कलाकृति'' की श्रेणी में आते थे। पुरातात्त्विक महत्त्व की वस्तुओं को एकत्र करने वाले

इन दुर्लभ कलाकृतियों में बहुत रूचि लेते थे। बाद में इसकी सराहना की गयी थी कि किसी स्थल पर पूर्व समय के लोगों के जीवन के साक्ष्य थे जो कि खुदाई के द्वारा नष्ट हो गए। किसी दुर्लभ कलाकृति

को अपने स्थान से हटा देने पर इसमें निहित अधिकांश सूचनाएं नष्ट हो जाती हैं। इसी अनुभूति के परिणामस्वरुप पुरातात्त्विक महत्त्व की वस्तुओं को एकत्र करने का स्थान पुरातत्त्व विज्ञान ने ले लिया, यह वह प्रक्रिया है, जिसे अभी भी परिपूर्ण बनाया जा रहा है।

पुरातात्त्विक सामग्री को संदर्भों के साथ ही संचित किया जाता है अन्यथा कोई विशेष अर्थ नहीं प्रदर्शित करती है। किसी माली ने एक कोने में मिट्टी का एक ढेर बना कर एक बजरी–पथ बनाया हो सकता है, या किसी छेद में एक पौधा लगाया हो सकता है। किसी राजगीर ने एक दीवार बनायी तथा खाई को भर दिया। कई वर्षों बाद, किसी ने इसपर एक शूकरशाला बनायी तथा इसमें नेटल पौधों का झुरमुट लगा दिया। बाद में, मूल दीवार ढह गयी। इनमें से प्रत्येक घटना, जिसे पूर्ण होने में लम्बा अथवा छोटा समय लग सकता है, एक परिस्थिति का निर्माण करती है। ये घटनाएं जो परतों के रूप में एकत्र हो जाती हैं, पुरातात्त्विक अनुक्रम अथवा रिकॉर्ड कहलाती हैं। इस अनुक्रम अथवा रिकार्ड के अध्ययन से उत्खनन के द्वारा विवेचना की जाती है, जिसके बाद इन पर परिचर्चा कर ज्ञान विकसित किया जाता है।

प्रमुख पुरातत्त्वविद् लुईस बिन्फोर्ड ने उल्लेख किया है कि किसी स्थल पर प्राप्त पुरातात्त्विक साक्ष्य उस स्थल पर हुए ऐतिहासिक घटनाओं की ओर पूरी तरह से इंगित नहीं करते, एक एथनोआर्कियोलॉजिस्ट तुलना करते हुए वे बताते हैं कि उत्तर–मध्य अलास्का के न्यूनाम्यूट एस्किमो शिकारी अपने शिकार की प्रतीक्षा करते हुए कैसे समय व्यतीत करते थे तथा उस समय के दौरान वे समय व्यतीत करने के लिए किस प्रकार के कार्य करते थे, जिनमें विविध वस्तुओं पर नक्काशी, जैसे कि काष्ठ के सांचे, मुखौटे, सींग की चम्मचें, हाथीदांत की सूई के साथ–साथ चमड़े के थैलों तथा हिरण की खाल से बने मोजों की मरम्मत आदि सम्मिलित थे। बिन्फोर्ड कहते हैं कि इन सभी गतिविधियों के पुरातात्त्विक साक्ष्य उत्पन्न हुए होंगे, परन्तु इनमें से किसी से भी इन शिकारियों के इस क्षेत्र में एकत्र होने के मुख्य कारण का पता नहीं चलता, जो कि वास्तव में शिकार करना था। वे बताते हैं कि जानवरों के शिकार के लिए प्रतीक्षा करना ''उनकी गतिविधि के कुल समय का 24% व्यतीत होता था; हालांकि इस व्यवहार का कोई पुरातात्विक निष्कर्ष नहीं है। स्थल पर मौजूद कोई भी उपकरण तथा ''उपोत्पाद'' ''मुख्य'' गतिविधि की ओर संकेत नहीं करते हैं।

5.5 पुरातात्त्विक उत्खनन के आधार

आधुनिक पुरातात्त्विक उत्खनन करने के दो बुनियादी आधार हैं:

1. अनुसंधान उत्खनन – जब पुरास्थल को इत्मीनान से पूरी तरह से उत्खनन करने के लिए समय और संसाधन उपलब्ध होते हैं। यह अब लगभग अनन्य रूप से शिक्षाविदों या निजी समितियों के लिए, जो पर्याप्त श्रम तथा धन एकत्र कर सकते हैं, सुरक्षित रह गया है। जैसे–जैसे यह आगे बढ़ती है, निदेशक द्वारा खुदाई के आकार का निर्णय भी लिया जा सकता है।
2. विकासात्मक उत्खनन –यह पेशेवर पुरातत्त्वविदों द्वारा की जाती है, जब इमारतों या विकासजनित कार्यो के बढ़ने से पुरातात्त्विक स्थल खतरे में आ जाता है। यह सामान्य रूप से इमारत के डेवलपर (बनाने वाला) द्वारा वित्त पोषित होता है एवं इसका अर्थ यह है कि इसमें समय महत्वपूर्ण होता है तथा इसमें उन्ही क्षेत्रों पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है, जो इमारत एवं विकासजनित कार्यो से प्रभावित हो रहे होते हैं। आमतौर पर कार्यरत कर्मचारी अधिक कुशल होते हैं हालांकि विकासात्मक–पूर्व उत्खनन खोज किये गए क्षेत्रों का विस्तृत रिकॉर्ड भी उपलब्ध कराते हैं। बचाव सम्बन्धी पुरातत्त्व–विज्ञान (Rescue archaeology) को हालांकि एक अलग प्रकार का उत्खनन माना जाता है परन्तु व्यावहारिक रूप से यह विकासात्मक उत्खनन का ही एक प्रकार है।

5.6 पुरातात्त्विक उत्खनन की योजना बनाने की विधि

प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता मार्टीमर व्हीलर का कहना है कि बिना सोचे–समझे किया हुआ उत्खनन गर्तो और खाइयों की दुर्व्यवस्था के लिए उत्तरदायी है। उसका पर्यवेक्षण तथा अंकन दुष्कर है और अर्न्तभेद से निकली हुई मिट्टी के ढेरों के कारण यह इतना अव्यवस्थिति बन जाता है कि या तो काम को खत्म कर देता है या निरन्तर गौण प्रक्रिया द्वारा उन्हें अलग करने में बहुत खर्च होता है। उत्खनन के पास जाकर कोई भी प्रशिक्षित प्रेक्षक एक नजर में ही उसकी दक्षता का मूल्यांकन कर लेता है। यह एक स्वयंतथ्य है कि अव्यवस्थित उत्खनन

बुरा है, यह बुरापन चाहे उसके सामान्य विन्यास में हो या उसके विस्तृत रूप में कार्यान्वित करने में। मार्गदर्शक सिद्धान्त कठिन नहीं वह यही है कि कोई योजना होनी चाहिए– विचार पूर्वक सोची हुई योजना तथा उसकी नियमित अनुपालन अर्थात् बिना योजना को बनाये उत्खनन की प्रक्रिया प्रारम्भ नहीं करना चाहिए।

योजना बनाने की विधि, स्थल के प्रकार और आवश्यकताओं पर निश्चित रूप से निर्भर रहती है। विस्तृत विवेचन के लिए हम अपनी समस्याओं का यहाँ तीन श्रेणियों में वर्गीकरण कर सकते हैं–

1. परीक्षणार्थ खोदी हुई खाईयाँ (Trial Trenching)
2. क्षेत्रोत्खनन (Area Excavation)
3. मौलिक खाईयाँ (substantive Trenching)

5.6.1 परीक्षणार्थ खोदी हुई खाईयाँ (Trial Trenching)

विस्तृत या व्यवस्थित उत्खनन से पूर्व टीले की प्राचीनता और स्तर की जाँच हेतु परीक्षणार्थ खाई खोदी जाती है। यह पद्धति बहुधा सफल भी रही है। मार्टीमर व्हीलर महोदय ने इसके बारे में कहा है कि यह काम विशेष सीमा तक आकाश में गोली मार कर पक्षी प्राप्त करने के संयोग के समान था। परीक्षणार्थ खोदी गई खाईया अत्यन्त सामान्य होने के कारण कदाचित ही कुछ सिद्ध करती है। एक परीक्षणार्थ खाई का उदाहरण देते हुए, वे कहते है यदि खोदी खाई किसी इमारत के मध्य से होकर गुजरती है तो इसमें स्तर को अलग करना मुश्किल हो जाता है। इस प्रकार के स्थल के लिए परीक्षणार्थ खोदी हुई खाई नहीं किन्तु विध्यनुरूप क्षेत्रीय उत्खनन ही उपयुक्त है, जो उत्पादन हीन होने पर कभी भी बन्द किया जा सकता है पर चुने हुए क्षेत्र के सन्दर्भ के बारे में बहुत कुछ अवश्य बतलाता है। इनका मानना है कि परीक्षणार्थ खाई को 'वर्ग पद्धति' के अनुरूप खोदने में आसानी होती है और रिकार्ड में गलती के सिरदर्द की समस्या भी नहीं आती है।

5.6.2 क्षेत्रीय उत्खनन (Area Excavation)

किसी स्थल पर बस्ती की जानकारी होने पर परीक्षणार्थ खाई नहीं किन्तु क्षेत्रीय उत्खनन कार्य सार्थक होता है। क्षेत्रीय उत्खनन में निम्नलिखित् बातें होना आवश्यक है –

1. अंकन और नियंत्रण के लिए आसानी तथा स्पष्टता से अलग विभाजन किया जा सके।
2. प्रारम्भिक आधार रेखा का तोड़े या क्षति पहुँचाये बिना किसी भी दिशा में सरल और उन्नतिशील विस्तार के योग्य हो।
3. उत्खनन के अन्त समय तक पूर्ण उर्द्ध–काट (Vertical Section) के अधिकतम बिन्दुओं को सतत् सन्दर्भ के लिए सुरक्षित रखने के योग्य हो।
4. निरन्तर किये हुए क्षेत्रीय उत्खननों का अन्त में सरसता से समाकलन (integration) करने योग्य हो।
5. मिट्टी को दूर करने के लिए, बीच के काटों में या खोदे हुए भू–पृष्ठ पर यातायात में रूकावट न डालते हुए, सब आसानी से सुगम हो।

6. आवश्यक गहराई तक काटों का अच्छे प्रकाश में आसानी से परीक्षण निश्चित करने के लिए आकाश की ओर पर्याप्त खुला हो।

इन सब आवश्कताओं की पूर्ति साधारणतः केवल एक ही प्रकार के जिस विन्यास से होती है वह है चतुवर्गो पर आधारित विन्यास। इस प्रक्रिया में उत्खनन हेतु प्रस्तावित क्षेत्र को वर्ग में बाँटकर अलग कर देते है। तदनन्तर जितनी गहराई तक उत्खनन करना होता है, उस सम्पूर्ण क्षेत्र को उतने ही वर्गफुट के वर्गों में विभक्त कर देते हैं, जैसे यदि 20 फीट गहराई तक खोदने की योजना हो तो वर्ग की भुजा (side) 20 फीट के माप की होनी चाहिए। प्रत्येक वर्ग के मध्य तीन फीट चौड़ी जगह पगडंडी के लिए छोड़ दी जाती है। वर्ग के प्रत्येक कोने पर 1 फीट तीन इंच लम्बी एक मजबूत खूँटी, जिसकी प्रत्येक बाजू की चौड़ाई नमूने में 1 1/2 इंच से कम न हो तथा जिसका एक छोर नुकिला हो, जमीन में इस प्रकार गाड़ी जाती है कि उसका मुँह प्रस्तावित वर्ग से कर्ण रेखावत् हो। खुँटी के शीर्ष भाग पर मध्य में लोहे की एक कील गाड़ी जाती है जिसका दो इंच भाग बाहर रखा जाता है। इस कील के माध्यम से

निरीक्षण के लिए मापन और डोरी बाँधने का काम किया जाता है। इस प्रकार खुँटियों से विभक्त किये गये वर्ग किसी एक दिशा – (जैसे पूर्व से पश्चिम) में अक्षरों से और दूसरी दिशा (जैसे उत्तर से दक्षिण) में संख्याओं से नामांकित किये जाते हैं। तब उनमें से प्रत्येक इस प्रकार जाना जाएगा A1, A2, A3 एवं B1, B2 इत्यादि। ये नाम प्रत्येक खूँटी पर साफ–साफ अंकित करना आवश्यक होता है।

5.6.2.1 नियंत्रण गर्त (control pit)

किसी वर्ग के वास्तविक उत्खनन के समय पुरातत्त्वीय उत्खनन के विषय में सर्वत्र प्रचलित जिस सिद्धान्त पर जोर देना आवश्यक है वह है नियंत्रण गर्त का उपयोग। यह निरीक्षण का अपना खास काम है और इसी पर विस्तृत प्रमाण में खोदने की यथार्थता साधारणतः निर्भर रहती है (व्हीलर, 1990 : 87)। नियंत्रण गर्त एक छोटा सा 2 1/2 फीट का चौकोर वर्गाकार खड्डा है, जिसे निरीक्षक स्वयं या किसी प्रशिक्षित व्यक्ति के द्वारा अपनी देख–रेख में जमीन के समतल भाग से 1 1/2 से 2 फीट को गहराई तक खोदता है। जिसके माध्यम से पुरातत्त्ववेता या निरीक्षक स्तरों के प्रकार एवं सम्भावित गहराई के परिणाम का अनुमान लगाने में समर्थ हो सकें। यह उसके भविष्य के स्तरीकरण के कार्य की

झलक है। इसके बिना न तो निरीक्षक और न तो उसके श्रमिक एक स्तर के निचले भाग उसके नीचे के स्तर के उपरी भाग की भ्रान्ति को दूर कर सकते है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि नियंत्रण–गर्त पूरे उत्खनन की मार्गदर्शक डायरी है, जिस पर उत्खनन की प्रक्रिया आगे बढ़ती है। सभी उत्खननों की प्रथा के अनुसार, ज्यों–ज्यों उत्खनन आगे बढ़ता जाता है, स्तरों को अलग–अलग करते हुए वर्गाकार को प्रत्येक भुजा पर भी उसके दिग्सूचक बिन्दू लेबल लगाये जाते है, जो वर्गाकार की सूचक संख्या से जोड़े जाते हैं; उदाहरणार्थ 3N यह B3 की उत्तर की बाजू का निदर्शन करता है। व्हीलर के अनुसार उत्खनन का यह आवश्यक नियम है कि 'पहले लम्बवत् उत्खनन और उसके बाद समतल (क्षैतिज) उत्खनन किया जाना चाहिए।'

5.6.2.2 ग्रिड प्रणाली (Grid Pattern)

उत्खनन करते समय कभी–कभी वर्गाकारों में तिरछा काम करना भी उपयुक्त प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ, तिरछी दिवारें मिलने पर सम्बन्ध स्तरों को नष्ट होने से बचाने की दृष्टि से उन दीवालों के समकोण से सेक्शन लेना आवश्यक हो जाता है। इस स्थिति में वर्ग के मध्य में एक मेड़ (Baulk) बन जाती है।यही ग्रिड प्रणाली कहलाती है। ऐसी स्थिति में इन तिरछे सेक्शनों का पार्श्व–भागों के अनुभागों (section) में साथ समन्वय करना और आवश्यकतानुसार उन्हें पृथक कर अंकित करना भी जरूरी है।

खण्डित ग्रिड प्रणाली के अर्न्तगत प्रत्येक बाक (Baulk) के दो काटे गये भागों में से प्रत्येक को पुनः अर्द्ध भाग में तीन फीट की चौड़ी मेड़ बाँधकर बाँट दिया जाता है और किसी एक भाग की खुदाई की जाती है।

5.6.3 मौलिक खाईयाँ

मार्टीमर व्हीलर ने मौलिक विशेषण इन खाइयों के लिए प्रयुक्त किया है, जो केवल अस्पष्ट रूप से ज्ञात पदार्थों को पता लगाने की दृष्टि से तैयार किये हुए गर्त ही नहीं परन्तु स्वयं निश्चित लक्ष्य है। इस श्रेणी में दुर्ग रेखा की अनुप्रस्थ कांटे सम्मिलित है, जो उनके संरचनात्मक अनुक्रम को स्थापित करने तथा उसके पर परवेष्ठन में आवास का अनुक्रम (sequence of occupation) निश्चित करने की दृष्टि से तैयार की जाती है।

उदाहरण के लिए व्हीलर महोदय ने 1944–45 ई0 के उन सेक्शनों को प्रगट किया है जिन्होंने पंजाब में तक्षशिला के तीसरे शहर सिरकप के पत्थर के बने संरक्षणों का सम्बन्ध समीप के एक ऐसे

'राजमहल' में बतलाया जिसका निश्चित समय ज्ञात है और इस प्रकार इस महत्वपूर्ण स्थल के काल क्रम पर प्रकाश डाला।

नियंत्रण गर्त के अभाव में नैसर्गिक कारणों से कटे टीले के अनुभागों से भी स्तर की जानकारी प्राप्त की जा सकती है। यदि टीले को कोई नाला काटता हो या पानी के बहने से कोई अनुभाग कट गया हो तो उसको साफ करके समुचित जानकारी ली जा सकती है।

5.6.4 डेटम बिन्दु (Datum Point)

किसी भी पुरास्थल पर उत्खनन कार्य करने से पहले पुरास्थल या टीले पर सभी प्रकार की ऊँचाइयों और गहराईयों की माप लेने के लिए सावधानी पूर्वक एक बिन्दु का चयन किया जाता है, वह बिन्दु 'डेटम बिन्दु' कहलाता है। इस प्रकार का निश्चित बिन्दु, मानवीय अथवा प्राकृतिक संरचना भी हो सकती है। यदि कुछ भी नहीं है तो किसी पाइप को भूमि में मजबूती से गाड़कर अथवा ईंटों को जोड़ कर बनाया जा सकता है। यदि टीला लम्बा–चौड़ा और ज्यादा ऊँचा–नीचा हो तो एक से अधिक डेटम बिन्दु निर्धारित किया जा सकता है। डेटम बिन्दु निर्धारित करते समय इस बात का सर्वथा ध्यान रखना चाहिए कि उत्खनन का विस्तार करते समय वह स्थल प्रभावित न हो। एक से अधिक डेटम बिन्दु होने पर मुख्य डेटम बिन्दु से अन्य डेटम बिन्दुओं की सापेक्ष ऊँचाई तथा पारस्परिक अन्तर को मुख्य डेटम बिन्दु पर अंकित कर देना चाहिए ताकि भविष्य में मापन में कोई समस्या ना हो।

5.6.5 डेटम लाइन (Datum Line)

डेटम बिन्दु से लेवलिंग यंत्र के माध्यम से एक रेखा सम्पूर्ण पुरास्थल पर दौड़ाते है इसी रेखा को डेटम लाइन कहते है। डेटम लाइन को आधार मानकर उसी के द्वारा सभी वस्तुओं की गहराई तथा पुरास्थल के ऊपरी सतह का निर्धारण करते हैं।

5.6.6 समोच्च रेखा (contour line)

कन्टूर लाइन/समोच्च रेखा समुद्र तल से समान ऊँचाई के स्थानों को मिलाने वाली रेखा होती है। समोच्च रेखा के मदद से हम सर्वे मैपों पे किसी स्थान की समुद्र तल से ऊँचाई का पता लगाते है। इसका प्रयोग सामान्यतः भूगोल विषय में किया जाता है लेकिन पुरातत्त्व विषय में भी पुरास्थल की समुद्र तल से ऊँचाई, पुरास्थल का प्लान एवं कन्टूर मानचित्र बनाने के लिए समोच्च रेखा खीचीं जाती

हैं। पुरास्थल का कन्टूर बनाने के लिए पुरास्थल के केन्द्र से चार भागों में रेखा AB, CD द्वारा विभाजित कर लेते है पुनः उसके ऊपर डेटम रेखा (प्रारम्भिक आधार रेखा) EF, GH खींचते है। इसके बाद प्रत्येक रेखा पर डेटम लाइन से गहराई नापते जाते है तथा उसे ग्राफ पेपर पर अंकित कर लेते है। इस प्रकार अंकित बिन्दुओं को जोड़ने पर पुरास्थल की ऊपरी सतह पूर्व–पश्चिम तथा उत्तर–दक्षिण रेखाओं पर निर्मित हो जाता है। डेटम लाइन के समानान्तर नीचे की रेखा खींच लेने पर पुरास्थल का कन्टूर दिखने लगता है। यदि पुरास्थल का विस्तृत कन्टूर प्लान बनाना है तो यही प्रक्रिया पुरास्थल को आठ भागों में विभाजित करके की जाती है। कन्टूर प्लान की शुद्धता के लिए प्लेन टेबुल या लेवलिंग यंत्र का प्रयोग किया जाता है। राधा कान्त वर्मा ने अपनी पुस्तक क्षेत्रीय पुरातत्त्व में उत्खनन प्रारम्भ करने के पूर्व ही कन्टूर मैप बनाने को उचित बताया है।

5.7 खुदाई की अवधारणायें

खुदाई की अवधारणायें निम्नवत् है–

5.7.1 स्तरीकरण

पुरातत्व, विशेष रूप से उत्खनन में स्तरीकरण सर्वोच्च और आधारभूत अवधारणा है। यह सुपरपोजीशन के नियम पर आधारित है। जब पुरातात्विक अवशेष जमीन की सतह से नीचे होते हैं (जैसा कि आमतौर पर होता है), प्रत्येक के संदर्भ की पहचान करना, पुरातत्वविद् के लिए उस पुरातात्त्विक स्थल के विषय में निर्णय लेने के लिए आवश्यक होता है, साथ ही इससे उस स्थल की प्रकृति तथा तारीख के विषय में भी जानकारी मिलती है। कौन से संदर्भ मौजूद हैं और वे कैसे बनाये गए, यह जानने का प्रयास करना पुरातत्त्वविद् की भूमिका होती है। पुरातात्त्विक स्तरीकरण या अनुक्रम स्टेटिग्राफी अथवा सन्दर्भ की इकाई का सक्रिय सुपरपोजीशन है। पुरातत्त्व में, पुरातात्त्विक स्थल (भौतिक स्थान) की खोज महत्वपूर्ण होती है। अधिक स्पष्ट रूप से कोई पुरातात्त्विक संदर्भ समय–काल में एक घटना है, जो पुरातात्विक रिकार्ड में संरक्षित हो गयी हो। भूतकाल में गड्ढे अथवा खाई को काटना एक संदर्भ है, जबकि सामग्री भरना दूसरा संदर्भ है। अनुभाग में कई भरण का दिखना कई संदर्भ कहे जायेंगे, संरचनात्मक विशेषताएं, प्राकृतिक निक्षेप तथा शवों को गाड़ना भी सन्दर्भ होंगे। किसी स्थल को इन बुनियादी, असतत् इकाइयों में वर्गीकृत करने से पुरातत्त्वविद गतिविधियों के कालक्रम को बना सकते हैं तथा इनका वर्णन और व्याख्या की जा सकती है। स्तरीकरण संबंध ऐसे संबंध होते हैं जिन्हें समय आधारित पुरातात्त्विक स्थलों के बीच स्थापित किया जाता है, ऐसा उनके बनने के कालानुक्रमिक अनुक्रम में किया जाता है। एक उदाहरण किसी खाई

तथा उस खाई को वापस भरने का हो सकता है। खाई को ''भरे जाने'' तथा ''काटे जाने'' के सन्दर्भ में ''भरा जाना'' क्रम में बाद में आएगा, उदाहरण के लिए खाई को भरे जाने से पूर्व उसको काटा जाना आवश्यक है। एक संबंध यह है कि अनुक्रम में बाद में आने वाले को ''उच्च '' संदर्भित किया जाता है तथा अनुक्रम में पहले आने वाले को ''निम्न '' संदर्भित किया जाता है, हालांकि शब्द उच्च अथवा निम्न का अर्थ यह नहीं है कि सन्दर्भ भौतिक रूप से ऊंचा अथवा नीचा हो। यह उच्च व निम्न की सोच हैरिस मैट्रिक्स के रूप में अधिक उपयोगी हो सकती है, जो कि किसी स्थल के स्थान व समय में निर्माण का दो–आयामी निरूपण है।

5.7.2 व्याख्या के लिए स्तरीकृत संदर्भों का मेल

आधुनिक पुरातत्व में किसी पुरातात्त्विक स्थल को समझने के लिए सन्दर्भों को समूहों में बांट कर उनके संबंधों के आधार पर उस समूह को बड़ा करते जाने की प्रक्रिया अपनाई जाती है। इन बड़े समूहों के नाम की शब्दावली अलग–अलग व्यावसाइयों के आधार पर बदलती है परन्तु कुछ शब्द जैसे कि अंतरापृष्ठ, उप–समूह, समूह तथा भूमि प्रयोग आदि सामान्य रूप से प्रयोग किये जाते हैं। उप–समूह का एक उदाहरण दफन में प्रयुक्त तीन सन्दर्भों से समझा जा सकता है, कब्र का आकार, मृत शरीर तथा उस शरीर के ऊपर पुनः भरी गयी मिट्टी, इस प्रकार उप–समूह, अन्य उप–समूहों के साथ स्तरीकृत संबंधों के आधार पर एकत्र होकर समूहों की रचना करते हैं जो कि इसी प्रकार ''चरण'' बनाती है। एक उप–समूह दफन–क्रिया अन्य उप–समूह दफन–क्रिया के साथ बड़ा समूह बना कर एक कब्रिस्तान का रूप ले सकती है, अथवा दफन–क्रिया समूह भी बना सकती है जिसे बाद में किसी भवन, जैसे कि गिरिजाघर के रूप में ''चरण'' की तरह समझा जा सकता है। एक या अधिक सन्दर्भों का एक क्रम सख्ती से किया गया समूह कभी–कभी फीचर भी कहलाता है।

5.7.3 चरण और चरणबद्धता

चरण आम आदमी को सबसे आसानी से समझ में आनेवाला समूहीकरण है, क्योंकि इसका अभिप्राय लगभग समकालीन पुरातात्त्विक क्षितिज से है, जो दर्शाता है ''यदि आप किसी विशिष्ट समय में वापस जा पाते, तो आपको क्या दिखाई पड़ता''. एक चरण का आशय, अक्सर, लेकिन हमेशा नहीं, एक व्यावसायिक स्तर की पहचान से सम्बंधित होता है, एक

''प्राचीन धरातल'', जो कुछ समय पहले मौजूद था। चरण की व्याख्या का निर्माण स्तरीकृत व्याख्या और उत्खनन का पहला लक्ष्य होता है। ''चरण में'' खुदाई चरणबद्धता से भिन्न है। पुरातात्विक स्थल की चरणबद्धता का अर्थ स्थल को उत्खनन अथवा उत्खनन–पश्चात समकालीन क्षितिजों में बांटने से होता है जबकि ''चरण में खुदाई'' पुरातात्त्विक अवशेषों को स्तरीकृत रूप से ऐसे हटाना होता है जिससे कि वे सन्दर्भ न हटने पायें जो कि सामयिक रूप से इसके पूर्व के हों अथवा ''अनुक्रम में नीचे की ओर हों'' इससे पहले कि अन्य सन्दर्भ जो कि स्तरीकरण सम्बन्ध में इसके बाद आते हैं जैसा कि सुपरइम्पोजीशन के नियम में कहा गया है। व्यवहार में व्याख्या की प्रक्रिया पुरातात्त्विक स्थल पर उत्खनन की रणनीति के साथ ही जारी रहेगी ताकि जहां तक संभव हो ''चरणबद्धता'' को उत्खनन के दौरान ही किया जा सके, तथा इसे एक अच्छी कार्यप्रणाली माना जाता है।

5.7.4 व्यवहार में उत्खनन

उत्खनन के प्रारंभ में मशीन द्वारा ऊपरी मिट्टी के ढेर को हटाया जाना सम्मिलित होता है। इस सामग्री को मेटल डिटेक्टर के द्वारा परीक्षण किया जाता है ताकि भूल से अलग रह गयी कोई भी सामग्री खोजी जा सके, परन्तु यदि इसके परित्याग से लेकर अब तक यह अनछुई नहीं रही है, इसमें आधुनिक सामग्रियों की एक परत मिलेगी जिसमें पुरातात्त्विक रूचि का अभाव होगा। ग्रामीण क्षेत्रों में स्थित कोई फीचर सतह के नीचे दिखाई पड़ जाता है परन्तु शहरी क्षेत्रों में मानवीय निक्षेप की एक मोटी पर्त हो सकती है, तथा प्रारंभ में सबसे ऊपरी सन्दर्भ ही प्रदर्शित होगा तथा इसे अन्य सन्दर्भों से अलग करके देखना होगा। सन्दर्भों तथा फीचर के नमूने लेने की एक रणनीति बनायीं जाती है, जिसमें प्रत्येक फीचर के पूर्ण उत्खनन अथवा आंशिक उत्खनन के विषय में निर्णय लिया जाता है। उत्खनन का वरीयता प्राप्त लक्ष्य यह होता है कि सभी पुरातात्त्विक निक्षेपों तथा फीचर को उनके निर्माण के उलटे क्रम में हटाया जाये तथा कालानुक्रमिक रिकॉर्ड अथवा ''अनुक्रम'' के रूप में हैरिस मैट्रिक्स बनायीं जाए. इस हैरिस मैट्रिक्स का प्रयोग ज्ञान की सतत बढ़ती हुई इकाइयों की व्याख्या तथा इन्हें जोड़ने में किया जाता है। पुरातात्विक स्थल से स्तरीकृत रूप से हटाया जाना यहां की घटनाओं के कालानुक्रम को समझने के लिए बहुत आवश्यक है। हालांकि इसे ऐसा सोचा जाना कि ''पुरातात्त्विक निक्षेप अपने आने के विपरीत क्रम में स्थल से जाने चाहिए''. आमतौर पर एक ग्रिड बनायी जाती है, जिसमें स्थल को 5 मीटर के वर्गों में विभाजित किया जाता है

ताकि फीचर तथा सन्दर्भों को सम्पूर्ण स्थल के नक्शे में सही रूप से स्थापित किया जा सके। इस ग्रिड को आम तौर पर किसी राष्ट्रीय जियोमैटिक डेटाबेस, जैसे कि ब्रिटेन के ऑर्डनेन्स सर्वे, में शामिल कर दिया जाता है। शहरी क्षेत्रों के पुरातत्व में यह ग्रिड एकल सन्दर्भ रिकॉर्डिंग के कार्यान्वन में अमूल्य हो जाती है।

5.7.5 एकल संदर्भ रिकॉर्डिंग प्रणाली

एकल संदर्भ रिकॉर्डिंग का विकास 1970 के दशक में लन्दन संग्रहालय के द्वारा किया गया था (इसके पहले विनचेस्टर तथा यॉर्क में भी) तथा तब से विश्व के कई भागों में यह मूल रिकॉर्डिंग प्रणाली बन गयी है, यह विशेष रूप से शहरी क्षेत्रों के पुरातत्त्व की जटिलताओं तथा स्तरीकरण के सर्वथा अनुकूल है। प्रत्येक उत्खनित संदर्भ को एक ''सन्दर्भ संख्या'' दी जाती है तथा इसको प्रकार के आधार पर सन्दर्भ शीट पर लिख लिया जाता है तथा संभवतः इसे सम्पूर्ण योजना अथवा खानों पर बना लिया जाता है। समय की कमी और महत्त्व के आधार पर संदर्भों की तस्वीरें खींची जा सकती हैं लेकिन इस मामले में फोटोग्राफी का उद्देश्य संदर्भों का वर्गीकरण और उसका अन्य सन्दर्भों से सम्बन्ध होता है। प्रत्येक सन्दर्भ की प्राप्तियों को उनके सन्दर्भ संख्या तथा स्थल की कोड संख्या के साथ थैलों में रखा जाता है ताकि बाद में उत्खनन पश्चात प्रति संदर्भ में इसका प्रयोग किया जा सके। सन्दर्भ के मुख्य हिस्सों की समुद्र स्तर से ऊंचाई, उदाहरण के लिए दीवार के ऊपरी तथा निचले हिस्से का अंतर, निकाल कर योजना के खण्डों तथा संदर्भ शीट में दर्ज कर लिया जाता है। ऊंचाइयों का रिकॉर्ड गड्डे अथवा सम्पूर्ण स्थल के साथ दर्ज किया जाता है तथा इसको साईट अस्थायी बेंचमार्क (लघुरूप टीबीएम) के सापेक्ष देखा जाता है। कभी कभी संदर्भों से जमा किये गए नमूने भी लिए जाते हैं ताकि बाद में इनका पर्यावरणीय विश्लेषण अथवा वैज्ञानिक कालांकन किया जा सके।

5.7.6 व्यवहार में स्तरीकृत उत्खनन

अपने मूल अर्थ में स्तरीकृत उत्खनन की श्रेष्ठ परंपरा में एक चक्रीय प्रक्रिया सम्मिलित है जिसमें इसमें स्थल की सतह पर ''पुनः खुरपी चलाना'' (ट्रौवेलिंग बैक) किया जाता है तथा ऐसे सन्दर्भों तथा कगारों को पृथक किया जाता है जिन्हें अपनी पूर्णता अथवा किसी अन्य सन्दर्भ के भाग के रूप में ही समझा जा सकता है

1. असतत प्रत्यक्ष ''कगारें'' जो पूर्ण योजना में दर्शित क्षेत्र को पूर्णतः दर्शाती हैं तथा इसलिए स्तरीकृत रूप से अपने इर्द गिर्द के क्षेत्रों की तुलना में बाद की होती हैं अथवा

2. असतत प्रत्यक्ष ''कगारें'' जो अपने इर्द गिर्द की सतह से अलग होती हैं, जैसा कि 1 में वर्णित है, तथा इनकी चारदीवारी उत्खन की सीमा से ही परिलक्षित होती है।

संदर्भ को परिभाषित करने की इस प्रारंभिक प्रक्रिया के बाद, संदर्भ का मूल्यांकन स्थल की विस्तृत जानकारी के सम्बन्ध में इसलिए किया जाता है कि जिससे स्थल को चरणों में बांटने की आवश्यकता को जांचा जा सके, इसके पश्चात इसे विभिन्न तरीकों से हटाया व रिकॉर्ड किया जाता है। अक्सर, व्यावहारिक दृष्टिकोण या त्रुटि के कारण, संदर्भ के कगारों को परिभाषित करने की प्रक्रिया का पालन नहीं किया जा सकता है तथा सन्दर्भ को अनुक्रम के बिना अथवा गैर–स्तरीकृत ढंग से निकाल लिया जाता है। इसको ''बिना चरण की खुदाई'' कहा जाता है। यह अच्छी प्रथा नहीं है। संदर्भ को हटाने के पश्चात, तथा यदि व्यावहारिक हो तो फीचर के लिए सन्दर्भों के समूह को हटाने के बाद, ''पृथक करते हुए खुदाई करते जाना'' (आइसोलेट एंड डिग) प्रक्रिया को तब तक दोहराया जाता है जब तक कि उस पुरातात्विक स्थल से मानव निर्मित अवशेष पूरी तरह से हटा न लिए जायें, तथा स्थल को पूरी तरह से प्राकृतिक न बना दिया जाये.

5.7.7 उत्खनन की भौतिक कार्यप्रणाली

उत्खनन की प्रक्रिया को पूर्णतया कई प्रकार से प्राप्त किया जा सकता है तथा यह अवशेषों के प्रकार तथा समय सीमा पर निर्भर करता है। मुख्य रूप से अवशेषों को ट्रौवेल (खुरपी) तथा मैटॉक (फावड़ा) की सहायता से उठा कर ठेले अथवा बाल्टियों में भर कर बाहर ले जाया जाता है। कई अन्य उपकरणों का प्रयोग, जिनमें पतली तौलिया, जैसे प्लास्टर लीफ तौलिया तथा कई श्रेणियों के ब्रश सम्मिलित हैं, नाजुक वस्तुओं जैसे कि मानव अस्थि तथा सड़ी हुई लकड़ी के लिए किया जाता है। पुरातात्विक रिकॉर्ड से सामग्री को हटाने के कुछ बुनियादी दिशा निर्देशों का पालन किया जाता है।

1.ज्ञात से अज्ञात की ओर कार्य करें – इसका मतलब यह है कि यदि कोई व्यक्ति सामग्री की स्तरीकरण की सीमा के प्रति आश्वस्त नहीं हो तो सामग्री को हटाने का कार्य वहां से प्रारंभ किया जाना चाहिए जहां पर यह अनुक्रम बेहतर रूप से ज्ञात हो।

2.ऊपर से नीचे की ओर कार्य करें – ज्ञात से अज्ञात की ओर कार्य करने के साथ–साथ यह भी आवश्यक है कि अधिक से अधिक दूरी तक कार्य किया जाये, सन्दर्भ के भौतिक रूप से उच्च स्तर से निम्न स्तर की ओर सामग्री को हटाया जाना चाहिए। यह भी सर्वश्रेष्ठ प्रथा है क्योंकि अन्यथा निकली हुई मिटटी इससे नीचे की सतह पर, जिस पर काम किया जा रहा है, गिर जाएगी, इस प्रकार से धुंधले वर्णन, जो कि उत्खनक से खो जाते, बचाए जा सकते हैं।

3.पुरातत्त्व में हम अपनी आंखों का उपयोग करते हैं – संदर्भों के उत्खनन का कार्य सूक्ष्म भेदों के विस्तृत अवलोकन पर निर्भर होता है।

4.संदेह की स्थिति में उपेक्षा करके आगे बढ़ो – यह अश्वारोहियों की सी लगने वाली उक्ति संक्षेप में आगे बढ़ने को प्रेरित करती है। किसी स्थल पर हमेशा समय की तुलना में किया जाने वाले कार्य का आधिक्य होता है। कई बार अनुभवी पुरातत्वविद भी अगले हटाये जाने वाले फीचर अथवा सन्दर्भ के बारे में निश्चित नहीं होते हैं। जब एक आदर्श तरीके से आगे बढ़ना संभव नहीं होता है, उत्खनन को अस्थायी वर्गों के साथ मनमाने तरीके से जारी रखा जाना चाहिए, जब तक कि प्रत्यक्ष स्तरीकरण फिर से सामने न आ जाये। पुरातात्त्विक स्थल के किसी क्षेत्र को मनमाने तरीके से छोड़ कर अस्थायी वर्गों की सहायता से स्तरीकरण पर नियंत्रण करके ''चरण के बाहर खुदाई'' की चेतावनी प्राप्त की जा सकती है। अगर उत्खनन के लिए मनमाना क्षेत्र बुद्धिमानी से चुना जाता है तो अनुक्रम को प्रकट करते हुए उत्खनन को पूर्ण स्तरीकृत प्रकार से वापस प्राप्त किया जा सकता है। यह जानना आवश्यक है कि उपेक्षा करके आगे बढ़ना पूरी तरह से क्रम रहित कार्य नहीं है बल्कि तर्कपूर्ण फल, अवलोकन तथा अनुभव पर आधारित श्रेष्ठ अनुमान की क्रिया है।

5.7.8 उत्खनन में आम त्रुटियाँ

उत्खनन की आम त्रुटियां दो बुनियादी श्रेणियों में रखी जा सकती हैं और इनमें से किसी एक का होना लगभग निश्चित ही होता है क्योंकि उत्खनन एक ऐसी ध्वंसकारी प्रक्रिया है जो सूचना को रिकॉर्ड करने के साथ ही उसे नष्ट भी करती जाती है तथा गलतियों का सुधार आसानी से नहीं हो पाता है।

1. कम काटा जाना– कम काटा जाना तब होता है जबकि सन्दर्भ का उत्खनन पूरी तरह नहीं किया जाता तथा सन्दर्भ का बचा हुआ भाग प्रकृति के द्वारा ढंक लिया जाता है। यह विशेष रूप से अनुभवहीन पुरातत्वविदों के साथ होता है जो कि संकोचशील होते हैं। कम काटा जाने के परिणाम गंभीर होते हैं, प्राप्त पुरातात्विक अनुक्रम अधूरे होते हैं तथा इसके बाद की रिकॉर्डिंग तथा उत्खनन स्थल पर स्थित अवशेषों के त्रुटिपूर्ण मानों पर आधारित होते हैं। अनियंत्रित रूप में कम काटे जाने के पश्चात उत्पन्न मिथ्या डेटा जो कि अक्सर हस्तक्षेप से मिलने वाली प्राप्तियों की असफलता होती है, तथा इस प्रकार उत्खनन के पश्चात व्याख्या में गंभीर जटिलताएं होती हैं। इससे सम्पूर्ण पुरातात्विक स्थल ''चरण के बाहर फेंक दिया जाता है'' जहां हैरिस मैट्रिक्स में दर्ज सम्बन्ध समझे जा सकने वाले वास्तविक संबंधों को नहीं दर्शाते– यदि कम काटे जाने को जारी रखने की स्वीकृति दी जाती है तो इसका दुष्प्रभाव बढ़ता जाता है।

2. अधिक काटा जाना– अधिक काटा जाना तब होता है जब सन्दर्भ को गैर–इरादतन रूप से अन्य अवशेषों तथा सन्दर्भों के साथ काट दिया जाता है। अत्यधिक काटा जाना चरण को लापरवाही के साथ हटाया जाना परिलक्षित करता है। हालांकि अधिक काटे जाने के कुछ परिमाण को रोका जाना संभव नहीं होता है, तथा इसे कम काटे जाने से बेहतर माना जाता है हालांकि अधिक काटा जाना सूचना की हानि का प्रतिनिधित्व करता है।

अधिक काटा जाना सूचना की हानि दर्शाता है जबकि कम काटा जाना मिथ्या सूचना दर्शाता है। किसी पुरातत्वविद् की एक भूमिका मिथ्या सूचना से बचना तथा सूचना की हानि को कम से कम करना भी होती है।

5.8 प्राप्त वस्तुएँ तथा शिल्पकृतियों की खुदाई

वे वस्तुएं एवं शिल्पकृतियां जो पुरातात्त्विक अभिलेखों में अब भी शेष हैं, वे सम्बंधित सन्दर्भ के उत्खनन द्वारा प्राप्ति के दौरान मुख्यतः हाथ से और अवलोकन के माध्यम से ही निकाली गयी हैं। उपयुक्तता और समय सीमा के आधार पर अन्य कई तकनीकें भी उपलब्ध हैं। छोटी वस्तुओं की खुदाई को अधिकतम करने हेतु छानने और प्लवन की विधि का प्रयोग किया जाता है, जैसे मिट्टी के पात्रों के छोटे ठीकरे या चकमक पत्थर के टुकड़े। शोध आधारित उत्खनन (जहां काफी समय होता है) में छानने की विधि का प्रयोग काफी प्रचलन में है। सीमेंट मिश्रित तथा वृहत स्तर पर छानने की प्रक्रिया में भी कुछ हद तक सफलता मिली है। इस विधि के द्वारा बेल्चे और मैटॉक (कुदाली) से सन्दर्भ को शीघ्रतापूर्वक हटाया जा सकता है, फिर भी इसमें खुदाई की दर उच्च रहती है। स्पॉयल को बेल्चे द्वारा मिश्रिक में डाला जाता है और घोल तैयार करने के लिए इसमें पानी मिलाया जाता है, जिसे फिर एक जालीदार छानने के माध्यम से उड़ेल दिया जाता है। प्लवन खुदाई की एक ऐसी प्रक्रिया है जो स्पॉयल को पानी की सतह पर डालने और बैठ चुके स्पॉयल में तैरती हुई वस्तुओं को अलग करने के द्वारा सम्पादित की जाती है, यह पर्यावरणीय डेटा की पुनर्प्राप्ति के लिए विशेष रूप से उपयुक्त विधि है, जैसे बीज और छोटी हड्डियां। सभी वस्तुओं को उत्खनन के दौरान ही नहीं निकाला जाता और कुछ तो विशेष रूप से उत्खनन के बाद, उत्खनन के दौरान लिए गए नमूनों के आधार, निकाली जाती हैं, विशेषतः प्लवन की क्रिया उत्खनन के बाद ही की जाती है।

उत्खनन के दौरान वस्तुओं को निकालने में विशेषज्ञ की भूमिका प्रमुख होती है, जो सन्दर्भ के विषय में पुरातात्त्विक अभिलेखों से सम्बंधित स्थान के कालांकन के विषय में जानकारी देता है। इसके द्वारा, प्राप्त वस्तुओं के अवशेष के उच्च क्रम के सन्दर्भ में पुनः निक्षिप्त हो जाने से, इसके फलस्वरूप होने

वाली संभावित खोजों के सम्बन्ध में पहले से जानकारी मिल सकती है। स्थान का कालांकन पुष्टिकरण प्रक्रिया का और उत्खनन के दौरान पुरातात्त्विक स्थल की चरणबद्धता पर कार्यात्मक अवधारणा की वैधता के मूल्यांकन का एक हिस्सा होता है। उदाहरण के लिए एक अनियमित मध्ययुगीन मिट्टी के ठीकरे का एक प्रत्याशित लौहयुग की

नाली में पाया जाना, अवश्य ही उस स्थल पर खुदाई की सही योजना के विचारों को स्वाभाविक रूप से बदल देगा और प्रक्षेप की प्रकृति के बारे में गलत अवधारणा के फलस्वरूप खो सकने वाली अनेक जानकारियों को सुरक्षित कर लेगा, जो उत्खनन के द्वारा नष्ट हो जाती और जिसके परिणामस्वरूप उत्खनन के पश्चात विशेषज्ञ को उस पुरातात्त्विक स्थल से अन्य कोई जानकारी मिल पाने की सम्भावना भी सीमित हो जाती है या अनियमित जानकारी उत्खनन में ''अंडरकटिंग'' के रूप में त्रुटियां दिखा सकती है। तिथि निर्धारण पद्धति कुछ हद तक उचित उत्खनन पर निर्भर करती है और इस प्रकार यह दोनों प्रक्रियाएं परस्पर एक दूसरे पर निर्भर करती हैं।

5.9 खुदाई/उत्खनन करने वाले यन्त्र

खुदाई करनेवाले यंत्रों के प्रयोग में लगातार वृद्धि हो रहा है, विशेषतः उत्खननकर्ता द्वारा करवाए जाने वाले उत्खनन में, ऐसा मुख्यतः समय के दबाव के करण होता है। यह विवाद का विषय है क्योंकि इनके प्रयोग के फलस्वरूप किसी पुरातात्त्विक स्थल पर पुरातात्त्विक क्रम किस प्रकार दर्ज किये जाते हैं इस सम्बन्ध में परिणामों में अंतर अवश्य ही कम हो जाता है। मशीनों का प्रयोग मुख्यतः आधुनिक बोझ को हटाने और स्पॉयल को नियंत्रित करने के लिए किया जाता है। ब्रिटिश पुरातत्त्व में खुदाई करनेवाले यंत्रों की ओर कभी–कभी ''द बिग येलो ट्रोवेल'' के उपनाम से भी संकेत किया जाता है।

5.10 कार्यबल का संगठन

पुरातात्त्विक उत्खनन करने वालों का एक समूह सामान्यतया एक निरीक्षक के लिए काम करता है, जो स्थल निदेशक या परियोजना प्रबंधक के प्रति जवाबदेह होता है। पुरातात्त्विक स्थल की व्याख्या और अंतिम रिपोर्ट तैयार करने के लिए अंत में वह ही उत्तरदायी होगा। अधिकांश उत्खनन अंततः व्यावसायिक पत्रों में प्रकाशित किये जाते हैं, हालांकि इस प्रक्रिया में कई वर्षों का समय लग जाता है। यह प्रक्रिया उत्खनन के बाद होती है और अनगिनत अन्य विशेषज्ञों को विकसित करती है।

5.11उत्खनन की विधियाँ

पुरातत्त्व के प्रारंभिक दौर में उत्खनन कार्य वैज्ञानिक विधियों से दूर था। इस दौर में फ्रांसीसी पुरातत्त्वविदों का बोलबाला था। दूर–दूर पर खॉत (Trench)लेकर उत्खनन करते

हुए परीक्षण खातों को मिलाकर किये जाने वाले उत्खनन कार्य से बीच के ध्वंसावशेष नष्ट हो जाते थे। इसके बाद मिस्र व मेसोपोटामिया के उत्खनन के दौर में कोन्जे, श्लीमेंन, पेट्री, कर्टियास, पिट रिवर्स आदि ने उत्खनन की वैज्ञानिक विधियों का विकास किया। ज्ञान के विस्तार के साथ–साथ उत्खनन के पूर्व–विधियों के दोष सामने आये। वर्तमान में उत्खनन की दो मुख्य विधियाँ प्रचलित हैं –

5.11.1 लम्बवत् उत्खनन (Vertical Excavation)

किसी पुरास्थल पर संस्कृतियों के कालक्रम को जानने के लिए लम्बवत् उत्खनन विधि का प्रयोग किया जाता है, जिसके लिए सीमित क्षेत्र में टीले के ऊपरी सतह से प्रारम्भ करके प्राकृतिक मिट्टी के आने तक उत्खनन किया जाता है। इस उत्खनन से क्षैतिज उत्खनन के लिए आधार उत्पन्न होता है और पुरातत्ववेत्ता को अपनी शोध परियोजना बनाने में सहायता मिलती है।

इस विधि में चिन्हित क्षेत्र में ऊपर से नीचे की ओर उत्खनन किया जाता है। सतहसे उत्खनन प्रारम्भ कर उत्खननकर्ता नीचे की ओर तब तक उत्खनन करता है, जब तक वह अप्रयुक्ता भूमि (Natural Soil) तक न पहुँच जाए। अप्रयुक्ता भूमि से तात्पर्य उस क्षेत्र में उस सतह (level) से हैं, जहाँ मानव आवास/क्रियाओं के चिन्ह मिलने बन्द हो जाते हैं। सीमित क्षेत्र में उर्ध्वाधर अथवा लम्बवत् उत्खनन से चिन्हित क्षेत्र में संस्कृतियों के क्रम को जानने में मदद मिलती है।

पुरातत्त्व में लम्बवत् उत्खनन का मुख्य उद्देश्य संस्कृतियों का प्रत्यक्षीकरण न होकर सांस्कृतिक कम का प्रत्यक्षीकरण है। इस प्रकार के उत्खनन से ज्ञात होता है कि संबंधित क्षेत्र में कितने लम्बे कालखण्ड तक एवं उसके बीच पड़ने वाले किन कालों में मानव बस्तियों का अस्तित्व था। इस विधि के माध्यम से संबंधित क्षेत्र में संस्कृतिमान अथवा समयमान तैयार किया जा सकता है। व्हीलर महोदय ने इसे Time Scale या Cultural Scale मापन विधि की संज्ञा दी हैं।

यह विधि सीमित क्षेत्र में प्रयुक्त होती है जिससे सीमित श्रम एवं सीमित व्यय लगता है। बड़े नगरों का उत्खनन करने में सर्वप्रथम इस विधि का उपयोग होता है। इससे संस्कृति की निरंतरता का भी आंकलन किया जा सकता है। संस्कृति के विनष्ट होने के क्रम एवं विभिन्न

स्थानों पर उक्त संस्कृति के साथ संबंध के कालखंड का अनुमान भी इसके माध्यम से किया जाता है।

इस उत्खनन विधि की उपादेयता के बावजूद इसके कुछ मौलिक दोष है। इस विधि में सभ्यता के विस्तार का पूर्ण ज्ञान नहीं होता है। लम्बे सांस्कृतिक क्रम वाले स्थलों पर गहराई तक पहुँच कर Natural Soil वाले स्तर तक पहुँचने में संकीर्ण क्षेत्र (Narrow area) में उत्खनन करना दुष्कर होता है। किसी क्षेत्र में मौजूद बहुमुखी सांस्कृतिक अवस्थाओं का ज्ञान भी इस उत्खनन से प्राप्त नहीं होता है। किसी स्थान विशेष के मानव का संबंधित संस्कृति के विकास में क्या योगदान रहा इसका आंकलन भी इस विधि में ज्ञात नहीं होता।

लम्बवत् उत्खनन की विधि में उत्खनन कार्य टीले के ऊपर प्रारम्भ किया जाता है। इसके निमित्त सदा Rectangular Trench बनाया जाता है एवं आवश्यकता होने पर उसे बायें या दायें नही बढ़ा/घटा कर आगे–पीछे घटाते/बढ़ाते है। प्राप्त पुरासामग्री को Three Dimentional विधि से मापित करते है। इसे L×B×D से प्रकट करते है, जहाँ L लम्बाई, B चौड़ाई एवं D गहराई का बोध कराता है। पुरासामग्री की स्थिति का मापन नजदीकी Cutting Line अथवा Rectangle की लम्बाई बढ़ाकर तल (bottom) में संकीर्णता की स्थिति से बचा जाता है।

5.11.2 क्षैतिज उत्खनन (Horizontal Excauation)

एक संस्कृतिक पुरास्थल या जिस पुरास्थल का सांस्कृतिक स्तर ज्ञात हो उसके किसी काल विशेष के सम्पूर्ण सांस्कृतिक गतिविधियों को जानने के लिए क्षैतिज उत्खनन का सहारा लेना पड़ता है। नगरों का उत्खनन इस विधि के द्वारा किया जाता है। संस्कृतियों के सम्पूर्ण आवास–विकास की जानकारी प्राप्त करते है। साधारणतया लम्बवत् उत्खनन एवं क्षैतिज उत्खनन एक–दूसरे के पूरक है, क्योंकि क्षैतिज उत्खनन से पूर्व स्थल की सांस्कृतिक स्तरों की जानकारी होती है।

किसी पुरास्थल के जमाव प्रकृति एवं स्तरीकरण के लिए पुरातत्ववेत्ता परीक्षण गर्त लगाता है, जो उत्खनन की योजना बनाने में काफी सहायक होता है। स्तरीकरण के सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में उपरोक्त विधियों के केन्द्र में अन्य उत्खनन कार्य किये जाते हैं।

जिसमें नगर स्थलों का उत्खनन, समाधि स्थलों का उत्खनन कार्य, ऐतिहासिक स्थलों का उत्खनन कार्य इत्यादि।

लम्बवत् उत्खनन से किसी पुरास्थल का सांस्कृतिक अनुक्रम ज्ञात होने के उपरांत संस्कृति की विस्तृत एवं यथेष्ट जानकारी प्राप्त करने के लिए क्षैतिज उत्खनन का सहारा लिया जाता है। जैसा कि नामकरण से स्पष्ट है, चिन्हित स्थल पर भूमि के विस्तार के साथ उत्खनन की विधि को क्षैतिज उत्खनन के नाम से जानते है।

उत्खनन की इस विधि में क्षितिज के विस्तार अथवा फैलाव के साथ उत्खनन कार्य को आगे बढ़ाया जाता है। इस उत्खनन विधि का उद्देश्य किसी पुरास्थल पर मौजूद संस्कृतियों को सम्पूर्णता के साथ ज्ञात करना है। टीले के रूप में धरती के गर्भ में समाये सांस्कृतिक युग का सांगोपांग चित्रण क्षैतिज उत्खनन के बाद ही किया जा सकता है। व्हीलर के अनुसार, इतिहास का मूल उद्देश्य ही यथार्थ का मूल्यांकन है जो क्षैतिज उत्खनन के बिना पूरा नहीं हो सकता।क्षैतिज उत्खनन से हम संबंधित पुरास्थल की काल विशेष की संस्कृति का पूर्णज्ञान प्राप्त करने के साथ–साथ संबंधित सभ्यता के अप्रत्यक्ष अवशेष भी प्राप्त कर सकते हैं। उससे यह ज्ञात हो जाता है कि सभ्यता के विकास में किसी स्थान विशेष का क्या योगदान रहा ?

इस विधि का प्रयोग सर्वप्रथम तक्षशिला उत्खनन के क्रम में जॉन मार्शल ने किया था एवं सिरकप टीले पर पर्थियन युग की संस्कृति का चित्रण प्रस्तुत किया था। 1944–45 में सम्पन्न इस उत्खनन के माध्यम से किसी पुरास्थल का सांगोपांग चित्रण पहली बार हमारे समक्ष आया। इसी विधि से मोहनजोदड़ो, कालीबंगा, लोथल आदि का उत्खनन भारत में हुआ। क्षैतिज उत्खनन में मोहनजोदड़ों के क्षैतिज उत्खनन से वहाँ की सड़कों–गलियों, नगर विन्यास आदि से संबंधित विस्तृत ज्ञान दुनिया के समक्ष लाया। उस समय लम्बवत् उत्खनन के अभाव में उसके विकास क्रम की कोई जानकारी सामने नहीं आई।

क्षैतिज उत्खनन की भी कुछ सीमाएँ हैं, इसका सबसे बड़ा दोष है कि इस विधि से सम्पन्न उत्खनन किसी भी पुरास्थल के सम्पूर्ण Time Scale की जानकारी नहीं देता। साथ ही साथ यह अधिक धन, जन एवं समय की मांग करता है। तथापि किसी सांस्कृतिक स्तर अथवा पूरी सभ्यता को सम्पूर्णता के साथ ज्ञात करने में क्षैतिज उत्खनन की अपरिहार्यता इसे विकल्प विहीन बनाती है।

क्षैतिज उत्खनन में पुरास्थल के किसी भाग को केन्द्र बनाकर Square Trench लिया जाता है एवं Grid Pattern का अनुसरण किया जाता है। इस विधि में Trench का विस्तार किसी भी दिशा में किया जा सकता है –

इस उत्खनन से प्राप्त पुरासामग्रियों की Recording Trangualtion Method से किया जाता है।

Peg के Top से Object की का मापन किया जाता है –

Object

A1

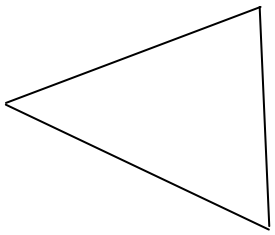

पारस्परिक संबंध AB दूरी

उत्खनन की उपरोक्त दोनों विधियों का अपना–अपना महत्त्व है। व्हीलर ने भी दोनों विधियों को एक–दूसरे का पूरक बताया हैं विरोधी नहीं। इस संबंध निम्नलिखित बिन्दुओं पर दृष्टि आपेक्षित है –

1. लम्बवत् उत्खनन सीमित क्षेत्र में सांस्कृतिक क्रमबद्धता को ज्ञात करने के लिए किया जाता है जबकि क्षैतिज उत्खनन सांस्कृतिक चरण विशेष को विस्तारपूर्वक ज्ञात करने के लिए। इस प्रकार दोनों विधियों का उद्देश्य पृथक है।
2. दोनों विधियाँ एक–दूसरे की पूरक है। क्षैतिज उत्खनन तभी उपादेय होगा जब लम्बवत् उत्खनन सांस्कृतिक क्रम की गहराई ज्ञात कर एक Roadmap तैयार कर दे। इसलिए व्हीलर ने कहा भी है –Vertical digging first, Horizontal digging after wards.
3. क्षैतिज उत्खनन बड़े–बड़े नगरों एवं सभ्यताओं की यथास्थिति (किसी कालखंड में) हमारे समक्ष उद्घाटित करने की क्षमता रखता है।

4. किन्तु उक्त स्थल की विकासात्मक/अवसानात्मक क्रमबद्धता का ज्ञान लम्बवत् उत्खनन के बिना नहीं हो सकता। इसी प्रकार लम्बवत् उत्खनन किसी सांस्कृतिक चरण में विकास के आयाम की परतें नहीं खोल सकता।
5. व्हीलर महोदय ने सटीक उपमा के माध्यम से दोनों उत्खनन विधियों के परस्पर संबंध को दर्शाया है–Vertical digging is the railway timetable without a train and Horizonatl excavation is train without time table.

5.12 वृत्तपाद या चतुष्पाद उत्खनन

वृत्तपाद या चतुष्पाद उत्खनन की यह वैकल्पिक विधि प्रथम विधि के इस आक्षेप का निराकरण करती है कि रिकॉर्ड केवल एक ही सामानान्तर अक्ष के सहारे तैयार किया जाता है। इस विधि से उत्खनन करने के लिये टीले को डोरियों के सहारे सर्वप्रथम चार भागों में बाँट दिया जाता है। आवश्यकतानुसार 50 सेमी के फासले पर खूँटियाँ गाड़ दी जाती हैं। ये खूँटियाँ प्रस्तावित स्थल से समकोण बनाती हुई गाड़ी जाती हैं जिससे कि माप लेने में आसानी हो। किनारे की खूँटियों के शिखर पर पाँच सेमी लम्बी कीलें गाड़ कर एक सुतली की डोरी बाँध दी जाती है। इन चारों प्रतिमुखी भागों (Opposite quarters) के बीच में एक मीटर चौड़ा रास्ता छोड़ दिया जाता है। प्रत्येक भाग की इस प्रकार से खुदाई की जाती है कि टीले के आर–पार दोनों दिशाओं में पूरा अनुप्रस्थ काट (Transverse section) उपलब्ध हो सके। प्रत्येक चतुर्थ भाग पर दिक्सूचक (Compass Point) की सहायता से अंक या अक्षर लिख दिये जाते हैं अथवा कोई विशिष्ट नाम दे दिया जाता है जैसे अ, ब, स, द । खाके की दिक्सूचक रेखाओं में से किसी एक के पास 50 सेमी के फासले पर खूँटियों को लगाना अभीष्ट है। इन खूँटियों के सहारे प्रत्येक चौथाई भाग की अभीष्ट त्रिविमितीय माप ली जाती है । उत्खनन कार्य की अन्तिम अवस्था के बीच के खुले हुए हिस्से अपने आप कट जाते हैं। इस प्रकार के उत्खनन में माप लेना अपेक्षाकृत सरल एवं आसान होता है। उत्खननकर्ता के कार्य क्षेत्र का स्थान अवश्य अत्यधिक संकीर्ण रहता है।

समाधि स्थलों के उत्खनन की इन उपर्युक्त दो मानक प्रणालियों के अतिरिक्त अन्य उत्खनन विधियाँ भी परिष्कृत एवं परिमार्जित की जा चुकी हैं जो आपात् काल में निश्चित समयावधि में उत्खनन पूरा करने में विशेष सहायक हैं। परन्तु इन कामचलाऊ पद्धतियों से केवल आपात् स्थितियों में ही उत्खनन करना चाहिए ।

5.13 परीक्षणात्मक उत्खनन तथा विकासात्मक उत्खनन का मूल्यांकन

पुरातत्त्वविज्ञान में दो प्रकार के परीक्षण उत्खनन होते हैं तथा दोनों ही विकासात्मक उत्खनन से सम्बंधित होते हैंः इनका नाम टेस्ट पिट अथवा ट्रेंच तथा वाचिंग ब्रीफ है। परीक्षण उत्खनन का प्रयोजन किसी क्षेत्र में विस्तृत उत्खनन से पहले पुरातात्त्विकसंभाव्यता के विस्तार तथा विशेषताओं को सुनिश्चित करना होता है। अधिकांशतः इन्हें विकासात्मक उत्खनन में प्रोजेक्ट मैनेजमेंट योजना के अंतर्गत किया जाता है। 'ट्रायल ट्रेंच' तथा 'वाचिंग ब्रीफ' में मुख्य अंतर यह है कि ट्रायल ट्रेंच में सक्रिय रूप से खुदाई करके पुरातात्त्विक संभाव्यता को दर्शाने का प्रयास किया जाता है जबकि वाचिंग ब्रीफ सरसरी तौर पर खंदकों का अध्ययन है जहां पर खंदकें पुरातात्त्विक प्रयोग हेतु नहीं देखी जाती हैं, उदाहरण के रूप में गैस पाइप के लिए सड़क पर काटी गयी खंदक. संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रयुक्त एक मूल्यांकन पद्धति जिसे शौवेल टेस्ट पिट कहते हैं, जिसमें आधे वर्ग मीटर की ट्रायल ट्रेंच हाथ से खोदी जाती है। अक्सर पुरातत्वविज्ञान अतीत के लोगों के अस्तित्व और व्यवहार को जानने का एकमात्र साधन होता है। हजारों वर्षों में अनेक सहस्त्र सभ्यताएं व समाज तथा उनमें रहने वाले अरबों लोग आये और गए जिनके विषय में लिखित रिकॉर्ड अल्प अथवा उपलब्ध नहीं है, अथवा उपलब्ध रिकॉर्ड गलत अथवा अपूर्ण है। जिस प्रकार आजकल इसका लेखन किया जाता है, वह चतुर्थ सहस्राब्दी ई.पू. तक अस्तित्व में नहीं था, मानव सभ्यता में तकनीकी रूप से उन्नत सभ्यताओं की एक अपेक्षाकृत छोटी संख्या ने इसके बाद ही यह लेखन प्रारंभ किया। इसके विपरीत होमो सेपियंस कम से कम 200,000 साल से अस्तित्व में है, तथा होमो की अन्य प्रजातियां लाखों वर्षों से विद्यमान हैं (मानव विकास)। इन सभ्यताओं को सर्वश्रेष्ठ रूप से संयोगवश ही नहीं जाना जाता है, सदियों से वे इतिहासकारों की जानकारी के लिए उपलब्ध हैं, जबकि पूर्वैतिहासिक सभ्यताओं का अध्ययन हाल में ही प्रारंभ हुआ है। कई साक्षर सभ्यताओं में भी कई घटनाओं और महत्वपूर्ण मानव व्यवहार को आधिकारिक तौर पर दर्ज नहीं किया गया है।

मानव सभ्यता के प्रारंभिक वर्षों से कोई ज्ञान–कृषि विकास, लोक धर्म की पंथ प्रथायें, प्रारंभिक नगरों का विकास–पुरातत्व से प्राप्त होना चाहिए।

धौलाविरा के उत्तरी फाटक के पास से दस अक्षरों वाला सिंधु लिपि के चिन्ह प्राप्त हुए हैं (लगभग 2500–1900 वर्ष पूर्व), जहां पर लिखित रिकॉर्ड मौजूद हैं भी, वे अक्सर अधूरे तथा अवश्य ही कुछ सीमा तक पक्षपातपूर्ण हैं। कई समाजों में, साक्षरता कुलीन वर्ग तक ही सीमित थी, उदाहरण के रूप में पुरोहित वर्ग अथवा अदालत या मंदिर में कार्यरत लोगों तक। अभिजात्य वर्ग की साक्षरता भी अक्सर अनुबंध तथा दस्तावेजों तक ही सीमित थी। अभिजात्य वर्ग के अपने हित तथा दुनिया को देखने का नजरिया अक्सर आम आदमियों से काफी भिन्न होता था। सामान्य लोगों के प्रतिनिधियों द्वारा किये गए लेखन के पुस्तकालयों में रखे जाने तथा आने वाली पीढ़ियों के लिए सुरक्षित किये जाने की संभावनाएं बहुत ही कम थीं। इस प्रकार, लिखित रिकॉर्ड सीमित व्यक्तियों के पक्षपात, कल्पना, सांस्कृतिक मूल्य तथा संभावित कपट का प्रदर्शन करते हैं, जो कि बड़ी जनसंख्याओं का एक छोटा अंश मात्र ही थे। इसलिए, लिखित रिकॉर्ड पर एकमात्र स्रोत के रूप में भरोसा नहीं किया जा सकता है। सामग्री के रूप में प्राप्त रिकॉर्ड समाज के उचित प्रतिनिधित्व करने के निकट है, हालांकि यह अपनी अशुद्धियों पर निर्भर है जैसे कि नमूना लेने में किया गया पक्षपात तथा विभेदात्मक परिरक्षण।

इनके वैज्ञानिक महत्त्व के अतिरिक्त, पुरातात्त्विक अवशेष कभी–कभी उन्हें बनाने वालों के वंशजों के राजनैतिक या सांस्कृतिक महत्त्व, एकत्र करने वालों को प्राप्त होने वाले मौद्रिक मूल्य अथवा सशक्त कलापक्ष से प्रभावित होते हैं। बहुत से लोग पुरातत्व को इस तरह के सौंदर्य, धार्मिक, राजनीतिक, अथवा आर्थिक कोष की प्राप्ति से जोड़ कर देखते हैं न कि पूर्वकाल के समाजों के पुनर्निर्माण के रूप में।

यह दृष्टिकोण अक्सर लोकप्रिय फिक्शन से प्राप्त होता है, जैसे रेडर्स ऑफ दि लॉस्ट आर्क, दि ममी एवं किंग सोलोमंस माइन्स, जब इस तरह के अवास्तविक विषयों को गंभीरता से देखा जाता है, उनके समर्थकों पर सदैव छद्मविज्ञान (सूडोआर्कियोलॉजी) का आरोप लगाया जाता है हालांकि, ये प्रयास, चाहे वे वास्तविक अथवा काल्पनिक हों, आधुनिक पुरातत्त्व का प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं।

5.14 सारांश

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि उत्खनन की दोनों विधियाँ मिलकर ही पुरातत्त्व को सम्पूर्णता प्रदान करती है। पुरातत्त्व में उत्खनन का अत्यधिक महत्व है। उसे यदि पुरातत्त्व की नींव कहा जाय, तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी। उत्खनन के माध्यम से विलुप्त संस्कृतियों एवं सभ्यताओं के अवशेषों की प्राप्ति होती है जिसकी विद्वतपूर्ण गवेषणा इतिहास की टूटी कड़ियों को जोड़ती है।

5.15 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. सर मॉर्टिमर व्हीलर, 1990 'पृथ्वी से पुरातत्त्व' हिन्दी माध्यम निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय।
2. एच0 डी0 सांकलिया,1969. पुरातत्त्व परिचय', डेक्कन कालेज, पूना।
3. के0 राजन, 2002 'आर्कियोलॉजीः प्रिंसिपल एण्ड मेथड्स,' मनू पाथ्पिक्कम, तंजौर।
4. आर0 के0 वर्मा, 'क्षेत्रीय पुरातत्त्व' इलाहाबाद
5. वी0 के0 पाण्डेय, 2017 'पुरातत्त्व मीमांसा', शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद।
6. अग्रवाल, डी0पी0 .1984. *द आर्कियोलॉजी ऑफ इण्डिया.* सेलेक्ट बुक सर्विस सिन्डीकेटः नई दिल्ली।
7. जैन, वी0के0 .2006. *प्रीहिस्ट्री एण्ड प्रोटोहिस्ट्री ऑफ इण्डियाः एन अप्रेजल.* डी0के0 प्रिन्टवर्ल्डः न्यू दिल्ली।
8. पाण्डेय, जे0एन0 2008. *पुरातत्त्व विमर्श.* प्राच्य विद्या संस्थानः इलाहाबाद।
9. भट्टाचार्य, डी0के0 2007. *भारतीय प्रागैतिहास की रूपरेखा.* पलका प्रकाशनः दिल्ली।
10. गोयल, श्रीराम. 2008. *प्रागैतिहासिक मानव और संस्कृतियाँ.* विश्वविद्यालय प्रकाशनः वाराणसी।
11. शर्मा, जी0आर0 1985. *भारतीय संस्कृतिः पुरातात्विक आधार, नई दिल्ली* : नेशनल पब्लिशिंग हाउस।
12. जायसवाल, विदुला. 1989. *भारतीय इतिहास का मध्य–प्रस्तर युग.* स्वाती प्रकाशनः दिल्ली।

13. दुबे, अनिल कुमार .2005. *मध्यगंगा घाटी में अधिवास प्रक्रिया* (जौनपुर जनपद के विशेष सन्दर्भ में) इलाहाबादः स्वाभा प्रकाशन।

14. मिश्रा, वी0डी0 1997. *सम ऑसपेक्ट्स ऑफ इण्डियन आर्कियोलाजी.* प्रभात प्रकाशनः इलाहाबाद।

5.16 बोध प्रश्न

- पुरातात्विक उत्खनन के कारणों पर प्रकाश डालिए।
- उत्खनन की ऐतिहासिकता पर निबन्ध लिखिए।
- उत्खनन की विभिन्न विधियों की विवेचना कीजिए।

इकाई–6 पुरातात्विक छायांकन, त्रिआयामी रिकॉर्ड, पुरातात्विक वस्तुओं का चित्रांकन

इकाई की रूपरेखा

6.1 प्रस्तावना

6.2 उद्देश्य

6.3 पुरातात्त्विक छायांकन

6.4 पुरातात्त्विक छायांकन के आवश्यक निर्देश

6.5 पुरातात्त्विक छायांकन के लिए आवश्यक सामग्री

6.6 हवाई छायांकन

6.7 त्रिआयामी रिकॉर्ड

6.8 पुरातात्त्विक वस्तुओं का चित्रांकन

6.9 सारांश

6.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

6.11 बोध प्रश्न

6.1 प्रस्तावना

पुरातत्विक अध्ययन के लिए यह आवश्यक है कि पुरास्थलों के अन्वेषण एवं उत्खनन के बाद पुरास्थल का व्यवस्थित छायांकन, प्राप्त पुरावस्तुओं की त्रि–आयामी रिगार्डिंग की जाए ताकि इसे पता चल सके की उपयुक्त वस्तु पुरास्थल के किस ट्रेंच से कितनी गहराई, कितनी दूरी और कितनी चौड़ाई पर प्राप्त हुई है। रिगार्डिंग की प्रक्रिया के उपरांत पुरातत्विक वस्तुओं का चित्रांकन किया जाना अत्यंत आवश्यक होता है, जिससे भविष्य में जब भी अध्ययन की आवश्यकता पड़े तो चित्रांकन के माध्यम से आसानी से समझा जा सके। छायांकन एवं रेखांकन का पुरातात्त्विक अध्ययन में महत्वपुर्ण स्थान है। इन दोनों को आलेखन का आयाम कहा जा सकता है। पुरातत्त्व का एक अभिन्न अंग उत्खनन है, जिस पर पुरातत्त्व की कार्यविधि बहुत कुछ अवलम्बित है। उत्खनन वास्तव में एक प्रकार का विनाश–कार्य है, जिसके माध्यम से पुरास्थलों के निक्षेपों को खोदकर पुरावशेष प्राप्त किये जाते हैं । कोई भी पुरातात्त्विक अनुसंधान उस समय तक सफल नहीं हो सकता है, जब तक कि उत्खनन के द्वारा किये गए विध्वंश का छायांकित एवं रेखांकित प्रमाण उपलब्ध न हो ।

6.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान सकेंगे–

- पुरातात्विक छायांकन को
- त्रिआयामी रिकॉर्ड के विषय में
- पुरातात्विक वस्तुओं के चित्रांकन को

6.3 पुरातात्त्विक छायांकन

उत्खनन के साथ–साथ एवं उत्खनन के उपारान्त पुरातात्त्विक छायांकन किया जाना आवश्यक होता है क्योकि उत्खनन के बाद पुरास्थल का विनाश हो जाता है। प्रारम्भ में जब पुरातत्त्व का आशय पुरावशेषों तथा पुरानिधियों का संग्रहमात्र था, उस समय छायांकन की महत्ता ठीक से नहीं आँकी गई थी, लेकिन जैसे–जैसे पुरातत्त्व के अंतर्गत मानव के अतीत को सम्यक् एवं समग्र रूप से जानने का प्रयास किया जाने लगा, वैसे–वैसे छायांकन का महत्त्व

भी बढ़ता गया। पुरातात्त्विक सर्वेक्षण तथा उत्खनन करते समय यह आवश्यक होता है कि जो वस्तु जिस स्थिति में उपलब्ध हुई हो, उस वस्तु को उसी स्थिति में उचित ढंग से रिकॉर्ड कर लिया जाए। इस प्रकार के विवरण के लिए सबसे अधिक उपयोगी माध्यम छायांकन तथा रेखांकन हैं। रेखांकन के द्वारा किसी भी पुरावशेष की माप तथा उसकी सापेक्ष स्थिति का ज्ञान प्राप्त होता है । उस पुरानिधि के स्वरूप का वास्तविक ज्ञान केवल छायांकन के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

6.4 पुरातात्त्विक छायांकन के आवश्यक निर्देश

वर्तमान समय में छायाचित्र खींचने के लिए गुगल कैमरे का प्रयोग तेजी से बढा है। कैमरे के आविष्कार के समय से लेकर आज तक इस दिशा में महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय प्रगति हो चुकी है। सामान्य छायांकन तथा पुरातात्त्विक छायांकन, मूलतः एवं सिद्धान्ततः एक होते हुए भी दोनों में कुछ मूलभूत अन्तर हैं। साधारण छायांकन में प्रकाश एवं छाया (Light and Shade) पर विशेष बल दिया जाता है। फोटोग्रॉफर का सारा ध्यान छायांकन द्वारा वस्तु (Object) की कलात्मकता में अभिवृद्धि करने पर केन्द्रित होता है, इसके विपरीत पुरातत्त्व सम्बन्धी छायांकन में पूरा प्रयास इस बात पर होता है कि जो वस्तु जैसी है, वैसी ही दिखे। उसमें किसी प्रकार की कृत्रिमता का समावेश न होने पाए। प्रायः हमें आँख से जो वस्तु जिस प्रकार की दिखलाई पड़ती है, वह वस्तु छायांकन में उसी तरह की नहीं आ पाती है। उसमें किंचित अन्तर हो जाता है, इसीलिए पुरातात्त्विक छायांकन में इस बात पर विशेष बल दिया जाता है कि वस्तु में विरूपण (Distortion) की मात्रा कम–से–कम हो । आँखों से देखने पर किसी भी अनुभाग या अनुप्रस्थकाट (Section) के विभिन्न स्तरों में जो अन्तर स्पष्ट रूप से नहीं दिखलायी देता, वह प्रायः छायांकन में नहीं आ पाता है। इसके अलावा छोटी–मोटी गंदगी जो नेत्रों से नहीं देखी जा सकती है, उसे भी कैमरा अंकित कर लेता है । ऐसी स्थिति में यह आवश्यक होता है कि पुरातात्त्विक फोटोग्रॉफर को जिस वस्तु का चित्र लेना है, उसे भली–भाँति तैयार कर लिया जाए।

पुरातात्त्विक छायांकन में महत्त्वपूर्ण पुरावशेषों को प्रमुखता प्रदान करते हुए छायांकन किया जाता है। फोटो खींचने का प्रमुख उद्देश्य किसी पक्ष विशेष पर सारा ध्यान आकर्षित करने का होता है,

इसलिए प्रायः यह कहा जाता है कि पुरातात्त्विक छायांकन में छायाकार या तो पुरातत्त्वविद् होता है अथवा स्वयं पुरातत्त्ववेत्ता ही फोटोग्रॉफर होता है। पुरातत्त्व सम्बन्धी छायांकन में चित्रों में पुरातात्त्विक

भावुकता का पुट देना बहुत जरूरी होता है, उदाहरणार्थ यदि किसी प्राचीन नगर –स्थल का फोटो खींचना है, तो नगर –स्थल और वहाँ पर विद्यमान नगरीय खण्डहरों तथा दीवालों आदि का यथार्थ चित्रण करना पड़ता है, अन्यथा वास्तविकता का आभास नहीं हो पाता है। प्राचीन लेख का चित्र खींचते समय इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि लेख यदि कहीं पर धुँधला हो गया हो, तो आवश्यकतानुसार उसे कोयले या खड़िया से चटक कर दिया जाए । यदि पत्थर के ऊपर काई लग गयी हो तो उसके ऊपर स्याही लगायी जा सकती है और थोड़ा सूखने पर उसे धीरे–धीरे पोंछ दिया जाता है। इस तरह से केवल लेख के धँसे हुए अक्षरों पर ही स्याही का अंश रह जायेगा। पत्थरों के बने हुए भवन– अवशेषों एवं स्मारकों का छायांकन करते समय पत्थरों को ब्रश से भली–भाँति साफ कर लेना चाहिए जिससे कि शेष पुरास्थल से भिन्न प्रतीत हों। दीवालों एवं उनके जोड़ों को भी फोटो खींचने के पूर्व अच्छी तरह से साफ कर लेना आवश्यक होता है ।

उत्खनन या सर्वेक्षण से ज्ञात सेक्शन यदि लगभग एक ही प्रकार का हो तो विभिन्न स्तरों (Layer) को एक दूसरे से अलग करने के लिए यह आवश्यक होता है कि किसी एक स्तर को अधिक चिकना किया जा सकता है, दूसरे स्तर को थोड़ा खुरदुरा रखा जाए, तीसरे को, यदि आवश्यकता हो, तो थोड़ा नम कर सकते हैं । कहने का आशय यह है कि उन स्तरों को इस प्रकार से तैयार करना चाहिए, जिससे कि विभिन्न कालों के जमाव अलग–अलग स्पष्ट रूप से दिखने लगें । कतिपय पुरावशेषों एवं पुरानिधियों को फोटो खींचते समय उपयुक्त पृष्ठभूमि (Background) तैयार करनी पड़ती है। सफेद रंग की वस्तु को उभारने के लिए काले रंग के मखमली कपड़े का उपयोग किया जा सकता है। काले रंग की वस्तु के लिए हल्के रंगीन कागज का उपयोग अच्छा रहता है। काले पुरावशेष को फोटो खींचने के लिए बिल्कुल सफेद कागज की पृष्ठभूमि इसलिए नहीं देते हैं, क्योंकि सफेद कागज कुछ कुछ प्रभा–विकिरण भी कर सकता है।

मानव कंकाल तथा हड्डियों के नीचे काली मिट्टी रख देना चाहिये, जिससे उनका सफेद रंग दिखलाई पड़े। यदि कंकाल के साथ मिट्टी के बर्तन भी मिले हों, तो कंकाल के निकट रखे हुए मिट्टी के पात्रों की विशेष रूप से सफाई की जाए। मिट्टी के काले बर्तनों का फोटो खींचते समय उनके नीचे सफेद चाक अथवा खड़िया मिट्टी को रख कर भी काम चलाया जा सकता है। फोटो खींचने के ठीक समय (Click) प्रभाविकिरण का परिहार करने के लिए विशेष सावधानी रखने की आवश्यकता होती है। इसे कम करने की दृष्टि से आजकल की फिल्में सामान्य रूप से पृष्ठांकित अथवा रंगीन बनायी जाती हैं, किन्तु उनसे यह कठिनाई पूरी तरह से दूर नहीं हो पाती है । यह ध्यान देने योग्य है कि

पुरातात्त्विक छायांकनों में अभीष्ट पैमाने का उपयोग किया जाए। मापक (Scale) के अभाव में किसी पुरातात्त्विक फोटोग्रॉफ को सही नहीं माना जाता है।

6.5 पुरातात्त्विक छायांकन के लिए आवश्यक सामग्री

किसी पुरातात्त्विक छायांकारके लिए सामान्यतः जिन विभिन्न साज–सामानों (Equipments) की आवश्यकता होती है, उनका संक्षेप में यहाँ पर उल्लेख किया जा रहा है। अच्छे एवं उपयुक्त कैमरे, फिल्में, छन्ने (Filters), लेन्स (Lens), कई आकार–प्रकार के पैमाने, तिपाई, सीढ़ी, डायरी तथा एक सन्दूक जिसमें फोटोग्रॉफी के समान ठीक से रखा जा सके ।

पुरातात्त्विक छायांकनसे सम्बन्धित आवश्यक साज–सामान के लिये सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सामान कैमरा है। प्रारम्भ में उत्खनन आदि पुरातात्त्विक कार्यों के छायांकन के लिए फील्ड कैमरे (Field Camera) का प्रयोग किया जाता था जिसमें 61/2" • 8 1/2" की प्लेट लगती थी लेकिन अब इनका प्रयोग बहुत कम हो गया है। अधिकांशतः क्वार्टर (Quarter) (अथवा) 2 बी (2B) तथा 35 एम. एम. (35mm) के कैमरों का प्रयोग किया जाता है । क्वार्टर साइज के उत्कृष्ट कैमरों के लेनहॉफ टेकनिका (Lenhaff Technica) तथा हल्लिवैड विशेष उल्लेखनीय हैं। ये कैमरे इस दृष्टि से भी बहुत उत्तम हैं क्योंकि उनके लेन्स आसानी से बदले जा सकते हैं । दूसरे शब्दों में इनमें विभिन्न फोकल लेंथ (Focal Length) वाले लेन्सों का प्रयोग किया जा सकता है ।

साधारणतः जितने कम फोकल लेंथ का लेन्स होता है उतना ही, उसका कोण (Angle) बड़ा होता है । 2 बी अथवा 120 साइज के कैमरों में रॉली फ्लेक्स (Rollie Flex) तथा याशिका (Yachica) अच्छे कैमरे हैं। 35 एम.एम. के उत्कृष्ट कैमरों में अशाई पेन्टेक्स (Ashaie Pente) तथा कैन्ट्रोरेक्स (Countrare 35mm SRL Camera) आदि हैं। इन कैमरों के द्वारा सर्वेक्षण तथा उत्खनन स्थलों की फोटोग्रॉफी के साथ ही साथ पुरातात्त्विक स्टूडियो का कार्य भी हो सकता है। अब स्वचालित कैमरे (Automatic) विकसित हो गए हैं जिनका उपयोग छायांकन में होने लगा है। इनके विकास से पुरातात्त्विक छायांकन अपेक्षाकृत सरल हो गया है।

फोटा का केन्द्र (Focus) मात्र 15 सेमी (6") का होना चाहिए। बहुत बड़ा केन्द्र उपयुक्त नहीं होता है। चित्र खींचते समय फोटोग्रॉफर को यह ध्यान रखना चाहिये कि कैमरे में उद्भासन (Click) के समय कितने सेकेंड का समय लगाने (Timings) की आवश्यकता है क्योंकि उसी के अनुसार क्लिक किया जायेगा। फोटो उतारते समय समतल देखने के लिए कैमरे के ऊपर बबुल लेवल (Buble Level) को लगा देना चाहिये जिससे यह ज्ञात हो सके कि खींचा जा रहा चित्र कहीं टेढ़ा तो नहीं हो रहा है।

आँख द्वारा घास के एकाकी तिनकों के नजरन्दाज हो जाने की संभावना है परन्तु कैमरे के अत्यन्त संवेदनशील लेन्स में ये भद्दे दिखलायी पड़ेंगे। प्राकृतिक रूप में अलग–अलग परिलक्षित होने वाले स्तर भी प्लेट के काले एवं सफेद (Black and white) रंगों में कभी–कभी एक हो जाते हैं। इसके लिये पुरातात्त्विक फोटोग्रॉफी में यथासंभव सावधानी रखने की आवश्यकता पड़ती है । ऐसी चीजों को जानबूझकर चिकना अथवा खुरदुरा करके फोटो खींचने के उपुयक्त बनाया जाता है । तस्वीर उतारते समय कैमरे को अभीष्ट वस्तु का फोकॅस लेने मात्र का आवश्यक समय देना चाहिये । यदि अधिक समय दिया गया तो फोटो काली पड़ सकती है। इस सम्बन्ध में फोकॅस को नियंत्रित करने के लिए प्रायः विभिन्न रंगों के छन्नों (Filters) का प्रयोग किया जाता है। कभी–कभी पूरा फोकॅस न पड़ सके इसके लिए टिन की चद्दर अथवा काले कागज को भी उपयोग में लाया जाता है।

पुरातात्त्विक छायांकन में प्रकाश का बहुत महत्त्व है । साधारण छायांकन में प्रायः कृत्रिम प्रकाश (Artificial light) का उपयोग किया जाता है। पुरातात्त्विक छायांकन में इसकी गुंजाइस बहुत कम रहती है। चूँकि प्रकाश एवं छाया दोनों का बचाव करना आवश्यक होता है इसलिए पुरास्थल (Field) पर जो छायांकन किया जाता है, वह ऐसे समय पर करना पड़ता है जबकि तीव्र प्रकाश न हो। यह सुविदित तथ्य है कि दिन में फोटो खींचते समय अधिक एवं तेज प्रकाश से बचना चाहिये। दिन भर में केवल कुछ ही ऐसा समय आता है जब कि पुरातात्त्विक छायांकन किया जा सकता है। छायांकन का कार्य सूर्योदय के बिल्कुल थोड़ा पहले ऊषा काल में जब सूर्य की आभा आ जाती है लेकिन सूर्य स्वयं नहीं निकला होता है अथवा सूर्यास्त के बाद गोधूलि वेला में जब कि सूर्य के छिप जाने पर भी प्रकाश फैला रहता है, के बीच के क्षणिक समयों में ही प्रायः अच्छी तरह से किया जा सकता है। कम प्रकाश में फोटो खींचना कठिन है, जब तक कि फ्लैश (Flash) का प्रयोग न किया जाए। अधिक प्रकाश में चित्र के काले हो जाने की संभावना रहती है। चित्र लेते समय सीधा प्रकाश डालना आवश्यक है। जहाँ

प्रकाश सीधा नहीं पड़ता है, वहाँ पर सफेद कागज, कार्ड अथवा शीशे की सहायता से सूर्य का प्रकाश परावर्तित करके डाला जा सकता है।

इस विषय में यह देखना आवश्यक है कि किस कोण से प्रकाश डाला जाए। छोटी चीज का चित्र लेते समय पहले उसे हाथ में लेकर चारों ओर घुमा कर देख लेना चाहिए कि किस कोण से कौन–सी रेखाएँ धुँधली हो जाती हैं। इससे प्रकाश की वक्रगति (Obliquity) ज्ञात हो जायेगी । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उपयुक्त प्रकाश के चयन में उत्खाता और फोटोग्रॉफर दोनों को सावधानी रखने की आवश्यकता है । फिल्मे प्रकाशमान हो फोटो खींचने के लिये प्रायः सादी अथवा काली एवं सफेद Films का प्रयोग किया जाता है। आवश्यकता एवं सुविधानुसार रंगीन फिल्मों का भी उपयोग किया जा सकता है। रंगीन तस्वीरें निस्संदेह अधिक प्रभावोत्पादक होती हैं।

छन्ने या फिल्टर छन्ने या फिल्टर (Filters) विभिन्न रंगों के शीशे है वे विभिन्न रंगों को या तो गहरा (Dark) बना देते हैं अथवा कुछ को हल्का (स्पहीज) कर देते हैं। आकाश में छाये वादल, नीले आसमान आदि प्राकृतिक दृश्यों को पुरातात्त्विक छायांकन की पृष्ठभूमि के रूप में प्रस्तुत करने के लिये छन्नों का प्रयोग किया जाता है। इनके अलावा हड्डी एवं लघु आकार के पुरावशेषों का फोटो खींचते समय भी छन्नों का उपयोग सार्थक सिद्ध हुआ है। लाल चमकदार प्लेटों (Panchromatic Plates) के लिये हरे एवं पीले रंग के छन्नों का प्रयोग किया जाता है। यदि सामान्य समय से छः गुने अधिक समय तक पुरावशेष को कैमरे के सामने फोकस करना हो, तो हरे रंग के फिल्टर का प्रयोग किया जाता है। पीले फिल्टर का प्रयोग दो गुने समय के लिये होता है। पीली चमकदार प्लेटों (Orthochromatic Plates) के लिये केवल हरे एवं पीले रंग के फिल्टरों का प्रयोग किया जाता है। इन फिल्टरों को लगाने के पूर्व उनका प्रदर्शन काल (Exposure factor) जानना नितान्त जरूरी होता है।

लेन्स : पुरातात्त्विक छायांकन में कम से कम तीन प्रकार के लेन्सों (Lenses) का प्रयोग किया जा सकता है : लम्बे केन्द्र वाला लेन्स (Long Focus Lens), मध्यम केन्द्र वाला (Medium Focus Lens) तथा छोटे केन्द्र वाला लेन्स (Short Focus or wide angle)।

मापक : पुरावशेषों की नाप का अनुमान करने के लिए मापक अथवा पैमाना (Scale) पुरातात्त्विक फोटोग्रॉफी में लगाया जाता है। पुरावशेषों के आकार–प्रकार के अनुसार मापक को सीधा अथवा आड़ा करके रखा जाता है। बड़े आकार की वस्तुओं तथा विस्तृत क्षेत्र के छायांकन में मीटर एवं

सेमी के निशानों से वर्गीकित डंडों (Ranging rods) का प्रयोग किया जाता है। यदि पुरावशेष छोटा है अथवा क्षेत्र अपेक्षाकृत छोटा है तो उसी के अनुरूप लकड़ी या दफ्ती के बने हुए छोटे आकार के पैमाने का प्रयोग किया जा सकता है। जब क्षेत्र विस्तृत होता है तब किसी स्त्री, पुरुष अथवा पशु का उपयोग मापक के रूप में किया जा सकता है । इनको कार्यरत या गतिशील अवस्था में तथा पुरातात्त्विक दृष्टि से गौण स्थान प्रदान करते हुए प्रदर्शित करना अधिक उपयुक्त होता है।

सीढ़ी :पुरातात्त्विक फोटोग्रॉफर के पास सचल सीढ़ी (Mobile Tower) का होना आवश्यक है। इसे घुमावदार तथा तोड़दार होना चाहिए तथा आवश्यकतानुसार ऊपर–नीचे किया जा सके। सीढ़ी के अभाव में ऊँचे लठ्ठे गाड़कर मचान बनाया जा है । मचान पर चढ़ कर ऊँचाई से फोटो लिया जा सकता है। यदि छोटी–बड़ी कई प्रकार की सीढ़ियों की व्यवस्था की जा सके तो विशेष अच्छा हो सकता है।

डायरी : पुरातात्त्विक छायांकन में प्रत्येक मूल चित्र (Negative) का समुचित ब्यौरा रखना बहुत जरूरी है, खींचे गये प्रत्येक फोटो के विवरण में पुरास्थल का नाम, सेक्शन का नम्बर, दिनांक, समय, प्रकाश का समय (Exposure time) तथा कब एवं किसने, किस लिये फोटो खींचा था आदि बातों का स्पष्ट उल्लेख आवश्यक है।

सन्दूक : पुरातात्त्विक छायाकार के पास एक ऐसा सन्दूक होना चाहिए जिसमें आवश्यक साज–सामान रखे जा सकें जैसे छोटे–छोटे मापक, ब्रश, फिल्म, फिल्टर, पिन एवं खींची हुई फिल्में (Exposed Films) आदि ।

6.6 हवाई छायांकन (Aerial Photographic)

यह भी छायांकन की नवीन पद्धति है। इस विधि द्वारा पुरास्थलों की खोज के लिए हवाई जहाज में लगे कैमरे के माध्यम से किसी स्थान का छायांकन किया जाता हैं। आजकल उपग्रहों के प्रयोग से इसकी उपयोगिता और बढ़ गयी है। इस प्रणाली में उपग्रह (लैण्डसेट) में लगे स्कैनर पृथ्वी की सतह से परारक्त रेडियेशन के संकेत अंकित करते है और उन्हें विद्युतीकृत करके छायाचित्रों में बदल देते हैं। हवाई छायांकन का पहला प्रयोग गुब्बारे के माध्यम से हुआ था। इसके लिए सर हेनरी वेलकम (Sir Henary Welcome) ने इस विधा के प्रयोग से मेसोपोटामिया तथा मिश्र के अनेक पुरास्थलों का हवाई सर्वेक्षण किया था। राजस्थान में बहने वाली लुप्त सरस्वती नदी का पता भी इसी विधि से लगाया गया है।

पुरातत्त्व में इस विधा का प्रयोग करने वाले विद्वानों में ओ0जी0एस0 क्रफर्ड का नाम महत्वपूर्ण है। क्रफर्ड को प्रथम विश्व युद्ध (28 जुलाई 1914–11 नवम्बर 1918) में अंग्रेजी सेना की पश्चिमी कमान में गुप्तचरी से सम्बन्धित छायांकन के विश्लेषण करने के लिए नियुक्त किया गया था।

विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद क्रफर्ड ने हवाई छायांकन सम्बन्धी अपने ज्ञान का प्रयोग पुरातत्त्व के क्षेत्र में किया। क्रफर्ड ने हवाई जहाज से शैषिक चित्र खीच कर इग्लैण्ड एवं ईराक के प्राचीन अज्ञात अनेक स्थानों के विषय में मिट्टी के रंग, प्राचीन टीलों की छाया तथा खड़ी फसलों की हरीतिमा के अन्तर के आधार पर पता लगाने में सफलता प्राप्त की थी। इस अविष्कार को उन्होंने नया नाम प्रदान किया जैसे प्रतिबिम्वित संकेत पुरास्थल (Shadow Marks/Sites), मृदा संकेत (Soil marks) और (Crop marks) शष्य चिन्ह/संकेत (राजन, 2002 : 71)।

भारत के सन्दर्भ में हवाई छायांकन का प्रयोग सर्वप्रथम मोहनजोदड़ों के छायांकन से प्रारम्भ किया गया। इन चित्रों के अध्ययन के आधार पर ज्ञात पुरास्थलों के आस–पास जो छोटे–छोटे अन्य पुरास्थल होते है उन्हें Satelite site (सेटेलाइट पुरास्थल) कहा जाता है। हवाई छायांकन के लिए सबसे उपयुक्त समय प्रातःकाल या संध्या का समय होता है, जब लम्बी छाया पड़ने लगती है। इसमें भी सुबह का समय अधिक उपयुक्त होता है। इस समय धरातल अपेक्षाकृत नम होता है इसलिए रंग अधिक अच्छी तरह से उभरते है। भारत में हवाई छायांकन और उपग्रहीय छायांकन (Satelite imageing) का कार्य नेशनल रिमोट सेन्सिंग एजेन्सी, हैदराबाद (National Remote Sensing Agency, Hyderabad) के सहयोग से सम्पादित होता है।

6.7 त्रिआयामी रिकॉर्ड

पुरातात्त्विक उत्खनन में विभिन्न स्तरों (Layers) से प्राप्त होने वाले पुरावशेषों का अत्यन्त सावधानी के साथ लेखा–जोखा तैयार करना बहुत आवश्यक होता है। इस प्रकार का विवरण पंजिका (साइट नोटबुक) में प्रतिदिन अंकित किया जाता है। नोटबुक के प्रथम स्तम्भ (First Column) में पुरास्थल का नाम एवं प्राप्त पुरावशेष (Finds) का क्रमांक (Serial Number)अंकित किया जाता है। मार्टीमर ह्वीलर ने प्रथम स्तम्भ में अंकित क्रम संख्या को एक त्रिभुज से घेर देने की परम्परा का प्रचलन किया था।

दूसरे खाने में पुरावशेष की माप अंकित की जाती हैं। यह स्तम्भ बहुत महत्त्वपूर्ण होता है क्योंकि उत्खनन के विवरण का यही स्तम्भ सारांश होता है।

पुरावशेषों का त्रिविमीतीय माप (Three Dimensional Measurement) ली जाती है। त्रिविमतीय माप अधोलिखित ढंग से ली जाती है : लम्बवत् अथवा अनुदैर्ध्य माप (Longitudinal Measurement) लम्बवत् अथवा अनुदैर्ध्य माप में पुरावशेष के प्राप्ति स्थल की निकटतम खूँटी या कील से दूसरी खूँटी या कील के बीच की लम्बवत् दूरी की नाप ली जाती है जैसे यदि कोई पुरावशेष एक नम्बर की खूँटी से 5 मीटर 50 सेमी की दूरी पर प्राप्त हुआ हो, तो उसे वस्तुतः पाँच नम्बर वाली खूँटी से नापा जायेगा। इस नाप को V, 1-50 मीटर अंकित किया जायेगा ।

बहिर्मुखी माप (Outward Measurement) बहिर्मुखी माप आधार रेखा (Datum Line) से ली जाती है न कि खाईं के वास्तविक पार्श्व (Actual side) से। किसी नम्बर की एक निश्चित खूँटी से खाईं की ओर की दिशा में पुरावशेष की दूरी की नाप को बहिर्मुखी माप कहते हैं। इस माप को लम्बवत् माप के बाद गुणा के चिह्न (X) द्वारा अंकित किया जाता है। यदि डेटम रेखा से 1-25 मीटर की दूरी पर कोई पुरावशेष प्राप्त हुआ हो तो उपर्युक्त उदाहरण में अभी तक की माप को इस प्रकार अंकित किया जायेगा v. 1-50 मीटर u1-25 मीटर ।

अधोमुखी माप (Downward Measurement) अधोमुखी माप आधार रेखा से पुरावशेष के प्राप्ति–स्थान की खड़ी गहराई (Vertical Depth) की माप होती है। यह माप फीते (Tape) या डण्डे (Rule) और साहुल (Plumbbob) तथा गुनिया (Angle Measure) की समकोण भुजा की सहायता से ली जाती है। नोटबुक में इस माप को ऋण – चिह्न (–) से अंकित किया जाता है जैसे यदि गहराई 5 मीटर 20 सेमी है तो पूरा रिकॅर्ड इस प्रकार हुआ v, 1-50 मीटर U1-25 मीटर &5-20 मीटर।

तीसरे खाने में स्तर की क्रम संख्या अंकित की जाती है। किसी प्रकार की गड़बड़ी की सम्भावना न रहे इसलिये स्तर संख्या को वृत्त (Circle) से घेर देने की परिपाटी मार्टीमर ह्वीलर ने चलायी थी । स्तरों की गणना ऊपर से नीचे की ओर की जाती है। यदि स्तर के विशिष्ट रंग एवं संरचना के आधार पर उसे कोई विशिष्ट नाम दिया जा सके, तो ज्यादा अच्छा रहता है। पुरातत्त्व में स्तरों का वही महत्त्व है जो किसी पुस्तक में उसके क्रमबद्ध पृष्ठों का होता है। जिस प्रकार पुस्तक के पृष्ठों के अस्त–व्यस्त हो जाने पर पुस्तक के प्रतिपाद्य विषय को समझाने में कठिनाई होती है, उसी प्रकार दोषपूर्ण अथवा गलत–स्तर–क्रम के आधार पर उत्खनित स्थल के इतिहास का यथातथ्य विवरण प्रस्तुत करने में कठिनाई हो सकती है। चौथे खाने (Column) में प्राप्त पुरावशेष का संक्षिप्त वर्णन लिखा जाता है । पाँचवें स्तम्भ में पुरावशेष का रेखाचित्र (Sketch) आदि बनाया जाता है और विशेष विवरण (Remark) लिखा जाता है।

6.8 पुरातात्त्विक वस्तुओं का चित्रांकन

रेखांकन (Drawing) का पुरातात्त्विक अध्ययन में महत्वपुर्ण स्थान है। पुरातत्त्व का एक अभिन्न अंग उत्खनन है, जिस पर पुरातत्त्व की कार्यविधि बहुत कुछ अवलम्बित है । उत्खनन वास्तव में एक प्रकार का विनाश–कार्य है, जिसके माध्यम से पुरास्थलों के निक्षेपों को खोदकर पुरावशेष प्राप्त किये जाते हैं । कोई भी पुरातात्त्विक अनुसंधान उस समय तक सफल नहीं हो सकता है, जब तक कि उत्खनन के द्वारा किये गए विध्वंश का रेखांकित प्रमाण उपलब्ध न हो। इसलिए उत्खनन से प्राप्त प्रत्येक वस्तु एवं पुरास्थल का चित्रांकन किया जाता है।

6.9 सारांश

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण के आधार पर कहा जा सकता है कि उत्खनन एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके फलस्वरूप पुरास्थल का मूल स्वरूप नष्ट हो जाता है इसलिए पुरास्थल एवं पुरावशेषों के संदर्भ का छायांकन, अभिलेखन और चित्रांकन किया जाना चाहिए।

यह प्रक्रिया कुछ उत्खनन के प्रारंभ करने से पूर्व, कुछ उत्खनन करते समय तथा कुछ रिकार्डिंग के बाद भी किया जा सकता है।

छायांकन के बिना पुरातात्त्विक विवरण अपर्याप्त एवं अपूर्ण रहेगा । पुरावशेषों एवं पुरानिधियों से प्राप्त ज्ञान को संचित तथा सुरक्षित रखने की जितनी विधियाँ ज्ञात हैं, उनमें छायांकन का प्रमुख स्थान है । उत्खनन करते समय प्राप्त जीर्ण–शीर्ण पुरावशेषों को उठाने से खण्डित हो जाने की आशंका रहती है। इस प्रकार की पुरानिधियों का उसी अवस्था में फोटो खींचकर उनका सही रेकर्ड तैयार किया जा सकता है। इस प्रकार छायांकन का पुरातत्त्व सम्बन्धी अनुसंधान एवं अध्ययन में महत्त्व स्वतः सिद्ध है ।

6.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. सर मॉर्टिमर व्हीलर, 1990 'पृथ्वी से पुरातत्त्व' हिन्दी माध्यम निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय।
2. एच0 डी0 सांकलिया,1969. पुरातत्त्व परिचय', डेक्कन कालेज, पूना।
3. के0 राजन, 2002 'आर्कियोलॉजीः प्रिंसिपल एण्ड मेथड्स,' मनू पाथ्पिक्कम, तंजौर।
4. आर0 के0 वर्मा, 'क्षेत्रीय पुरातत्त्व' इलाहाबाद
5. वी0 के0 पाण्डेय, 2017 'पुरातत्त्व मीमांसा', शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद।
6. पाण्डेय, जे0एन0 2008. *पुरातत्त्व विमर्श.* प्राच्य विद्या संस्थानः इलाहाबाद।
7. शर्मा, जी0आर0 1985. *भारतीय संस्कृतिः पुरातात्विक आधार, नई दिल्ली* : नेशनल पब्लिशिंग हाउस।
8. मिश्रा, वी0डी0 1997. *सम ऑसपेक्ट्स ऑफ इण्डियन आर्कियोलाजी.* प्रभात प्रकाशनः इलाहाबाद।

6.11 बोध प्रश्न

- त्रिआयामी रिकॉर्ड पर प्रकाश डालिए।
- पुरातात्विक छायांकन पर निबन्ध लिखिए।
- पुरातात्विक वस्तुओं के चित्रांकन पर टिप्पणी लिखिए।

इकाई–7 : कालानुक्रम निर्धारण की विधियाँ – सापेक्ष विधि : प्रारूपकी, पुरापुष्पपराग विश्लेषण, फ्लोरिन विश्लेषण

इकाई की रूपरेखा

7.1 प्रस्तावना

7.2 उद्देश्य

7.3 कालक्रम निर्धारण की विधियाँ

7.4 सापेक्ष तिथि विधि

- 7.4.1 प्रारूपिकी
- 7.4.2 स्तरीकरण
  - 7.4.2.1 स्तर निर्माण
  - 7.4.2.2 स्तर पृथक्करण
- 7.4.3 अन्योन्याश्रय तिथिक्रम
- 7.4.4 फ्लोरीन जाँच
- 7.4.5 नाइट्रोजन एवं फास्फेट विश्लेषण
- 7.4.6 पुरापुष्पपराग विश्लेषण,

7.5 सारांश

7.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

7.7 बोध प्रश्न

7.1 प्रस्तावना

पुरातत्त्व मानव अतीत के क्रियाकलापों की व्याख्या करता है। पुरातत्त्व प्रमुख रूप से भौतिक पुरावशेषों के माध्यम से मानव इतिहास की रूपरेखा तैयार करता है। प्रारम्भ में पुरातत्त्व को साक्ष्य संकलन की एक प्रणाली मात्र माना जाता था, परन्तु पुरातत्त्व के क्षेत्र में उत्तरोत्तर वृद्धि होने के साथ ही इस विषय के वैज्ञानिक पहलुओं पर भी ध्यान दिया जाने लगा। वर्तमान में पुरातत्त्व मानवकृत पुरावशेषों को खोज निकालने का एक तरीका ही नहीं है बल्कि तिथि निर्धारण कर सही परिप्रेक्ष्य में रखकर अध्ययन की एक जटिल एवम् गंभीर बौद्धिक प्रक्रिया भी है।

7.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान सकेंगे–

- कालानुक्रम की विभिन्न विधियों को
- सापेक्ष विधि के विषय में
- प्रारूपकी तिथि विधि को
- पुरापुष्पपराग विश्लेषण, फ्लोरिन विश्लेषण को

7.3 कालक्रम निर्धारण की विधियाँ

पुरातत्त्व में कालक्रम निर्धारण की दो विधियाँ है –

(1) सापेक्ष (2) निरपेक्ष

7.4 सापेक्ष तिथि विधि

पुरातत्त्व में सापेक्ष विधि प्रारम्भ से ही प्रचलित है क्योंकि इस विधि के द्वारा पुरातत्त्ववेत्ता सर्वेक्षण या उत्खनन के दौरान ही इस विधि के द्वारा विभिन्न पुरास्थलों या निधियों का कालक्रम निर्धारण करने में सफल हो पाता है, जिससे उसे उत्खनन या सर्वेक्षण की रूपरेखा बनाने में सहायता मिलती है, क्योंकि सापेक्ष विधि तुलनात्मक होती है,

अतः उसे निरपेक्ष तिथि से प्राप्त आँकड़ों को समायोजित करने में कोई समस्या नहीं होती है। इसमें तीन विधियां प्रमुख है –

(1) स्तरीकरण (2) प्रारूपिकी (3) अन्योन्याश्रीत निर्धारण विधि

7.4.1 प्रारूपिकी

प्रारूपकी के अन्तर्गत पुरावशेषों के विशिष्ट आकार–प्रकार के आधार पर सापेक्ष तिथियाँ निर्धारित की जाती है। पुरावशेषों के प्रारूप अपने आप में किसी प्रकार की तिथि नहीं प्रकट करते है लेकिन आगे यदि एक निश्चित क्रम में परिवर्तन एवं तकनीकी विकास परिलक्षित होता है तो उनकी सापेक्ष तिथि निर्धारण की जा सकती है। प्रारूपकी से किसी काल विशेष के आन्तरिक विकास भाव की जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

प्रागैतिहासिक काल मानव के उद्‌भव एवम् प्रारम्भिक तकनीक के विकास से सम्बन्धित काल है। इस काल से सम्बन्धित पुरावशेष बहुत सीमित मात्रा में प्राप्त होते है। इस काल के पुरावशेषों का अध्ययन करने तथा कालानुक्रम में व्यवस्थित करने के लिए प्रारूप प्रणाली का सहयोग लिया जाता है। इस विधि के अन्तर्गत प्राप्त पुरावशेषों को उनके आकार–प्रकार तथा निर्माण तकनीक के आधार पर विभिन्न वर्गों में वर्गीकृत किया जाता है।

इस प्रणाली द्वारा पुरास्थल से प्राप्त एक ही प्रकार की दो वस्तुओं की आपसी तुलना, तकनीक में समानता व असामनता आदि का अध्यनन करने पर तिथि–निर्धारण किया जा सकता है। ये पुरासामग्रियाँ अपने आप में किसी भी प्रकार से तिथि–निर्धारण नहीं करती अपितु इनका सूक्ष्म अध्ययन, तकनीक–परिवर्तन, आकार–प्रकार का अध्ययन करने के उपरान्त ही हम तत्कालीन मानव समूहों के क्रियाकलापों के विषय में कुछ कह पाने में सक्षम हो सकते है। प्रारम्भ में पुरापाषाणकालीन उपकरणों का अध्ययन इस विधि से किया जाता था, उदाहरणार्थ– मानव द्वारा निर्मित पाषाण उपकरण आकार में बड़े तथा स्वरूप में भौडे थे, परन्तु बाद के उपकरण छोटे व निश्चित आकर में बनने लगे जिन्हें देखकर ऐसा लगता है कि इनको तैयार करने के लिए निश्चित तकनीक का प्रयोग किया गया होगा, जो कालक्रम की दृष्टि से परवर्ती प्रतीत होती है।

कालान्तर में मृदभाण्डों के वर्गीकरण में भी यह प्रणाली बहुत ही सहायक सिद्ध हुई है। पुरातात्त्विक सर्वेक्षण के दौरान अधिक मात्रा में विभिन्न प्रकार के मृदभाण्डों के टुकड़े सतहों पर उपलब्ध होते है। इन ठीकरों को देखकर ही ज्ञात हो जाता है कि कौन से हस्त निर्मित है व कौन से चाक निर्मित। स्वभावतः हस्तनिर्मित ठीकरे, चाकनिर्मित ठीकरों से अधिक प्राचीन होंगे। इस प्रकार इस प्रणाली द्वारा देश के भिन्न–भिन्न क्षेत्रों से प्राप्त पुरावशेषों को उनके आकार–प्रकार तथा निर्माण तकनीक विधि द्वारा विभिन्न वर्गों में वर्गीकृत करने के पश्चात् तथा तुलनात्मक अध्ययन के बाद मानव के विकास के विभिन्न चरणों का क्रमवार अध्ययन किया जा सकता है।

किन्तु यह प्रणाली अपने आप में सम्पूर्ण नहीं है। इसका सीमित मात्रा में ही लाभ लिया जा सकता है क्योंकि पूर्ण एवम् क्रमबद्ध विकास दर्शाने हेतु प्रारूप प्रणाली के अलावा स्तरीकरण के साथ–साथ अन्य वैज्ञानिक विधियों का सहयोग भी महत्वपूर्ण है।

7.4.2 स्तरीकरण

स्तरीकरण के सिद्धान्त का उपयोग ब्रिटेन के भूगर्भशास्त्री **चार्ल्स लिएल** ने सन् 1830–33 में किया था, जिसे पुरातत्त्व के अध्ययन के लिए उपयोगी समझा गया। पुरातत्त्व का सबसे महत्वपूर्ण अंग पुरातात्त्विक स्तरीकरण है। पुरातत्त्व की सम्पूर्ण प्रक्रिया स्तरीकरण के सिद्धानत पर आधारित है, जिसका मूल आधार अध्यारोपण (Superimposition), एकरूपता (Uni-formitarianism), अनुक्रम (Sequence) है। **चार्ल्स लिएल** के अध्यारोपण के सिद्धान्त के अन्तर्गत यदि ''पृष्ठ में कोई उथल–पुथल नही हुयी है तो निम्नतम वस्तु प्राचीन होगी तथा उसके ऊपर आधारित अथवा स्थित वस्तु बाद की होगी।''

स्तरीकरण के अध्ययन में पृथ्वी के अन्दर हुए विभिन्न प्रकार के जमावों का अध्ययन किया जाता है। ये जमाव एक निश्चित कालक्रम में हुए निर्माण या बनावट को दर्शाता है। स्तर–विन्यास एक प्राकृतिक प्रक्रिया है। मिट्टी, बालू, कंकड आदि के संचय से पृथ्वी के स्तरों के निर्माण में जल तथा वायु की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। स्तर शब्द के लिए अंग्रेजी भाषा के 'Strata' शब्द का प्रयोग होता है।

इस शब्द का प्रयोग भूगर्भशास्त्र में विलियम स्मिथ द्वारा किया गया। भूगर्भशास्त्र में इसका प्रयोग पृथ्वी की परतों के लिए किया गया जिनसे धरती के बाहरी भाग का निर्माण हुआ। किन्तु पुरातत्व में भूमि की जमाव की प्रक्रिया के साथ–साथ मानव के क्रिया–कलापों व प्रभाव के विषय में अध्ययन की ओर विशेष बल दिया जाता है। स्तरीकरण के क्षेत्र में जॉन मार्शल तथा मार्टीमर व्हीलर का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है। पिट रिवर्स ने पुरातात्विक स्तरीकरण के वैज्ञानिक अध्ययन एवम् विवेचन की नींव डाली।

स्तरीकरण की सहायता से विभिन्न सभ्यताओं के क्रम तथा किसी सभ्यता के क्रमिक विकास के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त की जा सकती है। मनुष्य जहाँ कहीं बसता है, वहीं उसकी सभ्यता बाढ़–भूचाल, बाह्य आक्रमण, अन्य प्राकृतिक विपदाओं आदि से नष्ट हो जाती है और उसी सभ्यता के ऊपर बाद में दूसरी सभ्यता बसती है। पुरातात्त्विक स्तर पृथ्वी की अपेक्षाकृत नवीन परते हैं जिनमें मनुष्य व उसकी गतिविधियों के प्रमाण सुरक्षित हैं।

स्तरीकरण के माध्यम से उत्खनित पुरास्थल से प्राप्त संस्कृतियों का क्रम निश्चित किया जाता है। चूंकि जिस संस्कृति का पदार्पण या प्रादुर्भाव सर्वप्रथम हुआ है, वह सबसे निचले स्तरों से प्राप्त होगी और जिसका प्रादुर्भाव बाद में हुआ, वह नवीन एवं ऊपरी स्तर से प्राप्त होगी। अध्ययन के लिए इन संस्कृतियों को नीचे से ऊपर की ओर रोमन अंको (I, II, III) में लिखा जाता है और स्तरों के ऊपर से नीचे की तरफ 1,2,3 अंकों में अंकित किया जाता है।

7.4.2.1 स्तर निर्माण

पुरातात्त्विक स्तरों का निर्माण एक सतत प्रक्रिया है, जो पृथ्वी पर मनुष्य के अविर्भाव के साथ ही आरम्भ हुई तथा निरन्तर चलती आ रही है। सामान्यतः पृथ्वी मुख्य रूप से जल व वायु के माध्यम से मिट्टी, बालू तथा कंकड आदि का संचय करके स्तर का निर्माण करती है। मानव स्वभावतः क्रियाशील होता है और यह एक सर्वविदित तथ्य है कि जिस स्थल पर मानव अपना जीवन व्यतीत करता है, उस स्थल पर उपकरणों एवं खाद्य पदार्थों एवं अन्य जीवनोपयोगी वस्तुओं के रूप में अपनी संस्कृति की स्मृतियाँ छोड़ जाता है, जिन्हें सामान्यतः पुरानिधियाँ कहा जाता है।

मानव के निवास के प्रतीक सम्बन्धी तथ्य पृथ्वी के धरातल पर पड़े रहते हैं एवं वायु व जल के सम्पर्क में आकर संचित होने वाली मिट्टी की नवीन परतों द्वारा आवृत हो जाता है। इस प्रकार जो सामग्री मिट्टी में दब जाती है, धीरे–धीरे स्तर का रूप ले लेती है।

7.4.2.2 स्तर पृथक्करण

स्तरों की पृथक पहचान एवं उनके पारस्परिक सम्बन्धों को निर्धारित करने के उपरान्त उत्खननकर्ता पुरास्थल के सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को भली–भाँति समझकर उसके सुस्पष्ट निर्वचन और प्रस्तुतीकरण में समर्थ होता है। परत की मिट्टी के रंग तथा बनावट के आधार पर भी स्तरों में भिन्नता पायी जाती है। स्तरों के आधार पर ट्रेंच पर मिली हुयी वस्तुओं के आधार पर काल को निर्धारित किया जाता है कि सम्बन्धित स्थान पर एक ही संस्कृति के पल्लवित होने के प्रमाण मिलते हैं या एक से अधिक संस्कृतियों का कालानुक्रम ज्ञात होता है।

स्तरीकरण के अध्ययन से मानव की उत्पत्ति या उसके पृथ्वी पर होने के समय से लेकर आज तक के विषय में भी ज्ञात होता है। पाषाण युग के मानव के क्रिया–कलापों, रहन–सहन तथा पर्यावरण के विशेष सन्दर्भ में ठोस जानकारी प्राप्त करने के लिए स्तरीकरण पुराविदों के लिए महत्वपूर्ण माध्यम है।

स्तरीकरण के माध्यम से प्रातिनूतन काल तथा नूतन काल के विषय में महत्वपूर्ण सूचनाएँ मिलती हैं। प्रातिनूतन कालीन जमावों से फ्लोरा तथा फौना से तत्कालीन पर्यावरण के विषय में जानकारी प्राप्त होती है। पाषाणकालीन जमानों से बहुत अधिक संख्या में फ्लोरा की प्राप्ति नहीं हो सकी है, क्योंकि फ्लोरा अनुकूल स्थिति न होने पर नष्ट हो जाती है। नेवासा से एक लकड़ी का टुकड़ा ग्रेवेल के प्रारम्भिक जमावों से मिला है। समय के साथ–साथ व पर्यावरण में परिवर्तन के फलस्वरूप मानव ने धीरे–धीरे कृषि करना सीख लिया था। उत्तरी राजस्थान की सॉल्ट लेक से परागकण की प्राप्ति हुई है। उसकी तिथि को 7000 ई0 पू0 रखा गया है। इस समय का पर्यावरण अपेक्षाकृत आर्द्र था। कोल्डिहवा से लगभग 6000 ई0 पू0की तिथि प्राप्त होती है। हारवेस्टर (पत्थर का चाकू), Ring Stone , सिल–बट्टा आदि की प्राप्ति नवपाषाणकालीन पुरास्थलों से हुई है।

इन उपकरणों की प्राप्ति से यह अनुमान किया जा सकता है कि इस समय मानव द्वारा अनाज के दानों का प्रयोग भोज्य सामग्री के रूप में किया जाने लगा होगा। कालीबंगा से प्राक्हड़प्पाकालीन जुते हुए खेत की प्राप्ति से यह कहा जा सकता है कि खेतों की जुताईकृषि कार्य के लिए की जाती थी। हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ों से गेंहूँ व जौ के प्रमाण मिले हैं वहीं लोथल तथ रंगपुर से चावल के छिलके का प्रमाण मिला है। फ्लोरा की भाँति फौना का भी स्तरीकरण में विशेष महत्व है। इसके माध्यम से तत्कालीन जीव–जन्तुओं का अध्ययन किया जाता है। साथ ही पर्यावरण के परिवर्तनों का अध्ययन किया जाता है। प्रातिनूतन काल के प्रारम्भ में कई नवीन प्रजातियों के होने के सूचना मिलती है, जिनमें से कुछ समाप्त हो गयी और कुछ नवीन प्रजातियों का उद्भव इस काल में हुआ।Fauna की सहायता से तत्कालीन पर्यावरण जैसे– हिमयुग, अन्तर्हिमयुग के विभिन्न चरणों तथा उसकी महत्ता का अध्ययन किया जाता है। प्रातिनूतन काल के जमावों से विशालकाय पशु–जीवाश्मों के होने के प्रमाण मिलते हैं। इस काल में Wolly Mammoths तथा Rhinoceros की प्राप्ति यहाँ के ठण्डे पर्यावरण की ओर इशारा करती है। Interglacial Period की प्रमुख स्पीसीज Straight task Woodlands Elephant, Woodlands Rhinoceros, African Hippopotamus इत्यादि थी।

स्तरीकरण के माध्यम से नदी वेदिकाओं के जमाव की प्रक्रिया का अध्ययन किया जाता है। नदी वेदिकाओं के निर्माण में पर्यावरण का परिवर्तन, भूकम्प, भूस्खलन तथा अन्य प्राकृतिक कारक जिम्मेदार होते हैं। प्रातिनूतन कालीन जमाव में हमें प्रमुखता से Boulder Conglomerate, Sandy Gravel Pebble, Sandy Gravel का जमाव स्तरीकृत रूप से प्राप्त होता है। प्रायद्वीपीय भारत की अधिकांश नदी वेदिकाओं से प्रारम्भिक पाषाण काल के उपकरण (Pebble, Handaxe इत्यादि) ठोस Cemented Gravel से प्राप्त हुए है और Cemented Gravel Deposit, Silt, Fine Gravel आदि के जमाव से ढके हुए थे। नदी वेदिकाओं से प्राप्त संस्कृतियों के उदाहरणस्वरूप सोहन संस्कृति के जमावों का विशेष महत्व है।

नदी–वेदिकाओं के अलावा शैलाश्रयों से भी प्रातिनूतन कालीन स्तरीकृत जमाव मिले हैं। विश्व के परिपेक्ष्य में उत्तरी स्पेन की कैस्टीलो नामक गुफा महत्वपूर्ण है। यहाँ से पश्चिम यूरोप की अधिकांश संस्कृतियों के प्रमाण प्राप्त हुए हैं। भारत के परिप्रेक्ष्य में **भीमबेटका** आदि शैलाश्रयों से भी प्रातिनूतनकालीन जमाव स्तरीकृत रूप से प्राप्त हुए हैं।

7.4.3 अन्योन्याश्रय तिथिक्रम

जब अज्ञात पुरावशेषों, स्तरों, सांस्कृतिक कालों तथा पुरास्थलों का कालक्रम किसी ज्ञात पुरावशेषों के आधार पर निर्धारित किया जाता है तो उसे Cross datingकहा जाता है। मिट्टी के बर्तनों के टुकड़ों, मुहरों तथा सिक्कों एवं अन्य पुरावशेषों के माध्यम से इस प्रकार का तिथिक्रम निर्धारित किया जाता है जैसे– नरहन उत्खनन से प्राप्त एक मृदभाण्ड Black sliped ware के कटोरे में रखा हुआ 50 पंचमार्क सिक्के मिले है, जिनके ऊपर अंकित चिन्ह और प्रतीक एक कटोरे की ज्ञात तिथि के आधार पर उस काल को लगभग 400–500 ई0 पू0निर्धारित किया गया उत्खनन के समय काल निर्धारण की दृष्टिकोण से Cross dating का अत्यन्त महत्व है।

7.4.4 फ्लोरीन जाँच

हड्डियों के निर्माण में कैल्शियम, फास्फोरस, मैग्नीशियम और कार्बोनेट आदि लवण होते है। भूमिगत जल के सम्पर्क के फलस्वरूप इनमें 2 फ्लोरीन का अवशोषण होता है। रासायनिक विश्लेषण के द्वारा फ्लोरीन की मात्रा का निर्धारण किया जा सकता है। एक साथ प्राप्त हड्डियों में फ्लोरीन की मात्रा एक सी होती है।

7.4.5 नाइट्रोजन एवं फास्फेट विश्लेषण

किसी भी प्राणी की मृत्यु के पश्चात् उसकी वनस्पतियों में स्थित नाइट्रोजन एवं फास्फेट की मात्रा क्रमशः कम होती जाती है। इस सिद्धान्त के अनुसार अस्थि जितनी पुरानी होगी उसमें नाइट्रोजनव फास्फेट की मात्रा उतनी ही कम होगी। प्रयोगशाला में अस्थि में मौजूद नाइट्रोजनव फास्फेट की मात्रा उतनी ही कम होगी। प्रयोगशाला में अस्थि में मौजूद नाइट्रोजनव फास्फेट की मात्रा को मापकर उसकी प्राचीनता स्थापित किया जा सकता है।

7.4.6पुरापुष्पपराग विश्लेषण (Pollen Analysis)

पुष्पधारी पेड़–पौधे तथा घासे अपना वंशक्रम अक्षुण्ण रखने के लिए बीज उत्पन्न करती है। बीज वाले प्रत्येक पेड़–पौधे एवं घास के पुष्पों के परागकणों का आकार भिन्न–भिन्न प्रकार का होता है, इसलिए परागकणों के विश्लेषण के आधार पर वनस्पतियों के विशिष्ट गुण अथवा जीन्स को विशेषज्ञ अपेक्षाकृत आसानी से ज्ञात कर सकते है। स्वीडन के वनस्पतिविज्ञानवेत्ता **लेनर वान पोस्ट** ने 1916 ई0 में इस विधि को विकसित किया था।

7.5 सारांश

उपर्युक्त विवरण के आधार पर कहा जा सकता है कि पुरातत्विक अध्ययन में तिथि निर्धारण का महत्वपूर्ण स्थान है प्रारंभ में तिथि निर्धारित करने की प्रक्रिया सापेक्ष तिथि विधि के माध्यम से सम्पादित की जाती थी जिसमें स्तरीकरण, प्रारूपकी का महत्वपूर्ण स्थान था। स्तरीकरण में इस तरह की गणना और प्राप्त पुरावशेषों के सामान स्तर से प्राप्त होने के आधार पर सापेक्ष तिथि का निर्धारण किया जाता है जिसमें संदर्भ आदि की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इसी तरह प्रारूपकी में वस्तुओं के आकार–प्रकार एवं बनावट के आधार पर तिथि का निर्धारण किया जाता है।इन तिथि विधियों द्वारा निर्धारित समय सौर वर्षों मेंनिश्चित रूप से नहीं दिया जा सकता बल्कि तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर संभावित तिथि निर्धारित की जाती है।

7.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. अग्रवाल, डी0पी0 .1984. *द आर्कियोलॉजी ऑफ इण्डिया.* सेलेक्ट बुक सर्विस सिन्डीकेटः नई दिल्ली।
2. सर मॉर्टिमर व्हीलर, 1990 'पृथ्वी से पुरातत्त्व' हिन्दी माध्यम निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय।
3. एच0 डी0 सांकलिया,1969. पुरातत्त्व परिचय', डेक्कन कालेज, पूना।
4. के0 राजन, 2002 'आर्कियोलॉजीः प्रिंसिपल एण्ड मेथड्स,' मनू पाथ्पिक्कम, तंजौर।
5. आर0 के0 वर्मा, 'क्षेत्रीय पुरातत्त्व' इलाहाबाद
6. वी0 के0 पाण्डेय, 2017 'पुरातत्त्व मीमांसा', शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद।
7. जैन, वी0के0 .2006. *प्रीहिस्ट्री एण्ड प्रोटोहिस्ट्री ऑफ इण्डियाः एन अप्रेजल.* डी0के0 प्रिन्टवर्ल्डः न्यू दिल्ली।
8. पाण्डेय, जे0एन0 2008. *पुरातत्त्व विमर्श.* प्राच्य विद्या संस्थानः इलाहाबाद।
9. भट्टाचार्य, डी0के0 2007. *भारतीय प्रागैतिहास की रूपरेखा.* पलका प्रकाशनः दिल्ली।

10. गोयल, श्रीराम. 2008. *प्रागैतिहासिक मानव और संस्कृतियाँ.* विश्वविद्यालय प्रकाशनः वाराणसी।
11. शर्मा, जी0आर0 1985. *भारतीय संस्कृतिः पुरातात्विक आधार, नई दिल्ली* : नेशनल पब्लिशिंग हाउस।
12. जायसवाल, विदुला. 1989. *भारतीय इतिहास का मध्य–प्रस्तर युग.* स्वाती प्रकाशनः दिल्ली।
13. मिश्रा, वी0डी0 1997. *सम ऑसपेक्ट्स ऑफ इण्डियन आर्कियोलाजी.* प्रभात प्रकाशनः इलाहाबाद।

7.7 बोध प्रश्न

- कालानुक्रम निर्धारण की विभिन्न विधियों की विवेचना कीजिए।
- सापेक्ष तिथि विधि पर निबन्ध लिखिए।
- प्रारूपकी पर टिप्पणी लिखिए।
- पुरापुष्पपराग विश्लेषण और फ्लोरिन विश्लेषण तिथि विधि की विवेचना कीजिए।

इकाई–8: निरपेक्ष तिथि– रेडियों कार्बन प्रणाली (सी–14), पोटैशियम आर्गन विधि, उष्मादिप्ति तिथि विधि एवं वृक्षवलय कालानुक्रम

इकाई की रूपरेखा

8.1 प्रस्तावना

8.2 उद्देश्य

8.3 निरपेक्ष तिथि

8.4 रेडियों कार्बन प्रणाली (सी–14)

8.5 पोटैशियम आर्गन विधि

8.6 उष्मादिप्ति तिथि विधि

8.7 वृक्षवलय कालानुक्रम

8.8 फिशन ट्रैक

8.9 सारांश

8.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

8.11 बोध प्रश्न

8.1 प्रस्तावना

निरपेक्ष तिथि विधि में किसी निश्चित पंचांग के दिनों, महीनों और वर्षों में तिथि निर्धारित की जाती है तो उन्हें निरपेक्ष तिथियों की संज्ञा दी जाती है। इसे कालमापन तिथि विधि भी कहते है।

8.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान सकेंगे–

- निरपेक्ष तिथि विधि को
- रेडियों कार्बन प्रणाली (सी–14)के विषय में
- पोटैशियम आर्गन तिथि विधि को
- उष्मादिप्ति तिथि विधि एवं वृक्षवलय कालानुक्रम की विशेषता को

8.3 निरपेक्ष तिथि (Absloute Detting)

निरपेक्ष तिथि विधि में तिथि सौर वर्षो में निर्धारित की जाती है। इसके अर्न्तगत रेडियों कार्बन प्रणाली (सी–14), पोटैशियम आर्गन विधि, उष्मादिप्ति तिथि विधि एवं वृक्षवलय कालानुक्रम विधि इत्यादि के द्वारा निरपेक्ष तिथि निर्धारित की जाती है, जिसका विवरण निम्नवत् है–

8.4 रेडियों कार्बन (सी–14) प्रणाली

अमेरिका के प्रसिद्ध **भौतिकवेत्ता विलियर्द एफ लिबी (1949) को रेडियो कार्बन तिथि** के अविष्कार का श्रेय है।अंतरिक्ष की किरणों का जब टकराव पृथ्वी के वायुमण्डल में स्थित विभिन्न परमाणुओं से होता है, तो इन प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप N तथा O_2 परमाणुओं का अनेक छोटे–छोटे कणों मे विखण्डित होना रेडियो कार्बन के निर्माण की दृष्टि से विशेष महत्व रखता है। उन खण्डित कणों के न्यूट्रान का निर्माण होता है, इन न्यूट्रान का N परमाणु के नाभिक से टकराने के फलस्वरूप रेडियों कार्बन की उत्पत्ति होती है। सामान्य C_{12} के C_{13} व C_{14} दो समस्थानिक होते है जिनमें C_{14} रेडियोधर्मी होता है।

रेडियो कार्बन तिथि निर्धारण के लिए तीन तथ्य आवश्यक है –(i) C_{14} की+ $\frac{1}{2}$(ii) किसी नमूने में C_{14} की मूल मात्रा (iii) उसी नमूने में अवशिष्ट C_{14} की मात्रा।

विलियर्दएफ0 लिबी $+\frac{1}{2} = 5568 \pm 30$ तथा एच गुडविन 5730 ± 40 निर्धारित की गयी तिथि विधि द्वारा 58000–60000 वर्ष तक का कालानुक्रम निर्धारित किया जा सकता है। रेडियो C_{14} के परीक्षण के लिए लकड़ी का कोयला 10–20 ग्राम, शुष्क काष्ठ 15–30 ग्राम, हड्डी 25–100 ग्राम उपयुक्त मात्रा मानी जाती है।

इसके अन्तर्गत कार्बन युक्त पदार्थों का तिथिक्रम ज्ञात किया जाता है। इस विधि से लगभग 50000–70000 वर्ष के बीच की तिथियाँ ज्ञात की जा सकती है। इस विधि के खोज का श्रेय 1949 में शिकागो वि0वि0 के प्रो0 Williard Franke Libby और उनके साथियों को दिया जाता है, जिन्होंने अपने दो सहयोगियों के साथ मिल कर राजाओं के कब्रों में पायी गयी मकड़ियों के नमूने से रेडियों कार्बन के विघटन की गणना की थी। उस गणना के आधार पर जो तिथि ज्ञात हुई वह पारम्परिक तिथि से बिल्कुल मेल खाती थी। इस खोज के लिए उन्हें नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया।

कार्बन में दो स्थाई समस्थानिक होते है जिन्हें C_{12}, C_{13}कहा जाता है और एक अस्थाई समस्थानिक C_{14}होता है। जिसकी अर्द्धआयु$(\frac{1}{2})$ 5568$\pm$ 30 वर्ष होता है। $+\frac{1}{2}$ लिवी द्वारा प्रस्तावित की गयी थी जिसके कारण इसे लिवी $+\frac{1}{2}$ कहते है। परन्तु बाद के खोजों से यह प्रमाणित हो गया कि C_{14} में विकिरण की दर समय में अन्तराल के पश्चात् परिवर्तित होती है अतः नई गणनानुसार आजकल C_{14} की $+\frac{1}{2}$ 5730$\pm$40 वर्ष निर्धारित की गयी है। जिसे कैबिज $+\frac{1}{2}$ कहा जाता है। वैसे गणना के लिए आज भी लिवी द्वारा $+\frac{1}{2}$ का प्रयोग किया जाता है और 1950 ई0 को इस गणना के लिए प्रयुक्त किया जाता है। गणना के पश्चात नये अर्द्धवार्षिक आयु के आधार पर ज्ञात तिथि को परिवर्तित कर सकते है।

रेडियो कार्बन द्वारा तिथि निर्धारण विधि वास्तव में अन्तरिक्ष किरणों की देना है। ये किरणें सभी दिशाओं से पृथ्वी पर आती है। सन् 1925 में इनका नाम Cosmic Rays रखा गया है। इन किरणों में विभिन्न प्रकार के अत्यन्त सूक्ष्म कण होते है जिसमें विद्युत आवेश होता है। हम जानते है कि पृथ्वी के वायुमण्डल में N 78% और O 21% है।

इन न्यूट्रान को जीवित पदार्थ अवशोषित करता है, जब N का एक परमाणु एक न्यूट्रान अवशोषित करता है तो एक प्रोट्रान निकलता है और फलस्वरूप N मात्रा में रेडियो एक्टिव कार्बन C_{14} और प्रोटान उत्पन्न करते है, जिस प्रकार साधारण कार्बन आक्सीजन से संयोग करके CO_2 बनाते है, उसी प्रकार रेडियो कार्बन C_{14} ऑक्सीजन (O) से संयोग करके रेडियो एक्टिव CO_2 बनाते है। जिसके फलस्वरूप साधारण CO_2 के साथ रेडियो एक्टिव कार्बन घुल–मिल जाता है और प्रकाश संश्लेषण के द्वारा साधारण CO_2 और रेडियो एक्टिव CO_2 दोनों पेड़–पौधों के जलने के पश्चात् यह कोयले में विद्यमान रहता है। परन्तु क्योंकि प्रकाश संश्लेषण पत्ते के टूटने के पश्चात् उसमें उपस्थित कार्बन से तुलना के उपरान्त तिथि की गणना निर्धारित की जाती है। कार्बन तिथि निर्धारण प्रक्रिया बहुत ही जटिल है और इसके लिए अनेक सावधानियों की जरूरत पड़ती है। असावधानी से नमूने दूषित हो जाते हैं, जिससे गलत तिथियों की समस्या बनी रहती है। नमूनों के वनस्पतियों के जड़ों आदि के सम्पर्क के फलस्वरूप भी दूषित होने की सम्भावना रहती है। इन त्रुटियों के अतिरिक्त सांख्यकीय त्रुटियाँ और प्रयोगशाला त्रुटियों की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। विभिन्न सामग्रियों से तिथि प्राप्त करने के लिए अलग–अलग मात्रा में नमूने एकत्रित किये जाते है जैसे– कोयला 10–12 ग्राम, लकड़ी 10–30 ग्राम, सीप 30–100 ग्राम, दलदली मिट्टी या पिट् 10–25 ग्राम, हड्डी 20–100 ग्राम इन नमूनों को सावधानी से एकत्रित किया जाता है। इसे सावधानी में रखना उपयुक्त होता है और नमी रहित वातावरण में इसे रखा जाता है।

8.5 पोटैशियम आर्गन

इस विधि में कई लाख वर्ष तक की तिथि निर्धारित की जा सकती है। इस विधि की सर्वप्रथम खोज **C.F.B. Visesekar** ने की। यह विधि इस तथ्य पर निर्भर करती है कि रेडियोधर्मी K^{40} में 1.3 बिलियन वर्षों में A^{40} में परिवर्तित होती है। इस K^{40} से A^{40} में परिवर्तन का औसत **स्पेक्ट्रोमीटर** द्वारा मापकर किसी साक्ष्य की तिथि ज्ञात की जा सकती है। इस विधि का उपयोग उन क्षेत्रों के लिए है, जहाँ पर ज्वालामुखी निर्मित जमाव उपलब्ध होता है तथा मानव आवास ज्वालामुखी के आस–पास हो।

8.6 वृक्षवलय तिथिक्रम (Dendro Chronology)

संयुक्त राज्य अमेरिका के विद्वान **A.E. Duglus** ने 1913 में इस विधि को प्रतिपादित किया था। इस विधि में वृक्षों के काष्ठ के वलयों का अध्ययन कर वृक्षों की तिथि निर्धारित की जाती है। वृक्षों की आयु क्षेत्र की जलवायु पर निर्भर करती है। इस विधि का उपयोग पुरातत्त्व में निरपेक्ष तिथि निर्धारण के लिए किया जाता है। आजकल इस पद्धति का उपयोग इसलिए भी बढ़ गया है, क्योंकि ये रेडियोकार्बन मिश्रणों के Colliberation में काफी सहायक होता है। इसके अविष्कार का श्रेय 1903–1913 के मध्य A.E. Dagulas को दिया जाता है, जो Arizona University के Laboratory of Tree Research के संस्थापक थे। शीतोष्ण क्षेत्र में आने वाले पेड़ अपने तने में हर वर्ष वलयका निर्माण करते है। मौसम और खुराक के आधार पर इन वलयों की मोटाई में परिवर्तन होता है। इस विधि के अन्तर्गत वर्तमान समय में उगने वाले वृक्षों के वलय को तुलना के आधार पर प्राचीन काल के वलयों से की जाती है। इस सन्दर्भ में कैलिफोर्निया में पाये जाने वाले ब्रिसलकोनपाइन आदि की आयु लगभग 4000 से 5000 वर्ष होती है जिससे तिथि का निर्धारण किया जाता है।

8.7 ऊष्मादीप्ति तिथि विधि

मृदभाण्डों एवं मृदभाण्ड सदृश पुरावशेषों की तिथि निर्धरण करने की एक महत्वपूर्ण पद्धतिऊष्मा–दीप्ति है। भौतिकवेत्ता **फेरिम्टन डेनियल** ने सर्वप्रथम 1953 में इसके उपयोग की ओर ध्यान आकर्षित किया। 400^0C-500^0C ताप पर पकाये गये मृदभाण्डों को इस विधि में पुनः 500^0–1200^0Cपर पकाने पर निकलने वाले विकिरणों की गणना ऊष्मा–दीप्ति विधि

कहलाती है। इन मृदभाण्डों में खनिज पदार्थ K^{40}, यूरेनियम, थोरियम के रेडियो एक्टिव तत्व रहते है, जिसे $\propto, \beta, \gamma$ के कण बाहर आते है, जिससे इनमें निरन्तर विकिरण होता रहता है।

किसी वस्तु को जलाने पर जो ऊर्जा निकलती है, उसे उष्मादीप्ति कहते है यद्यपि यह विधि पहले से ही ज्ञात थी किन्तु पुरातत्त्व के क्षेत्र मे 1960 के आस–पास इस विधि का उपयोग किया गया। इस विधि से मृदभाण्ड के टुकड़ों की तिथि ज्ञात की जाती है। मिट्टी से बनी वस्तुएँ या पात्र जिनकी तिथि इससे ज्ञात की जाती है को कम से कम 400–500^{0}C से अधिक तापमान तक पकाये गये होने चाहिए। मिट्टी के साथ अन्य खनिज पदार्थ जैसे–Ku_o, Ua_2 बोरियम के तत्व रेडियो एक्टिव पदार्थ के रूप में विद्यमान होते है। इन पात्रों से विकिरण के कारण $\propto, \beta, \gamma$ के कण बाहर आते रहते है। ये मृदभाण्ड एक लम्बी अवधि तक भूमि के अन्दर पड़े रहते है तब भी इनमें विकिरण होता रहता है जिसके कारण फलस्वरूप कुछ अन्य इलेक्ट्रान भी उत्पादित होते है। ये विभिन्न इलेक्ट्रान आपस में संघटित होकर क्रिस्टल में समाहित होकर बाहर निकलने लगते है।

8.8 फिशन ट्रैक

इस तिथि विधि के प्रणेता **आर. वाकर** को माना जाता है। ऐसे पदार्थ जिनमें यूरोनियम की मात्रा अधिक होती है, उनमें शीघ्रता से फिशन निर्मित हो जाते है। तिथि निकालने के लिए फिशन ट्रैक की गणना की जाती है तथा पदार्थ में कितना यूरेनियम है ज्ञात किया जाता है। इसके विखण्डन का $+\frac{1}{2}$ लगभग 8×10^{15} वर्ष होता है। U^{32} फिशन ट्रैक तिथि निर्धारण के लिए उपयोगी माना गया है क्योंकि इसमें स्वतः विखण्डन होता है।

8.9 सारांश

निरपेक्ष तिथि विधि का पुरावशेषों के अध्ययन में महत्वपूर्ण स्थान है इस तिथि विधि के माध्यम से तिथि का निर्धारण सौर वर्षों में किया जाता है। विज्ञान के विकास के साथ साथ पुरातात्त्विक अध्ययन में भी वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग किया जाना शुरू हुआ, जिसके परिणामस्वरूप पुरातत्त्व अवशेषों की तिथि निर्धारण करने के लिए नवीन वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग किया जाने लगा, जिसमें कार्बन 14,पोटैशियम आर्गन, उष्मादीप्ति और वृक्षवलय इत्यादि प्रमुख हैं। इसमें कार्बन 14 तिथि विधि का प्रयोग अधिकता में किया जाता है।

इन वैज्ञानिक तिथि विधियों के प्रयोग की वजह से किसी भी प्राचीन वस्तु की निरपेक्ष तिथि निर्धारित की जाने लगीं, जिससे पुरातत्व विषय की उपयोगिता मानवीय इतिहास संस्कृति की स्थापना के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण और भविष्योन्मुखी हो गयी है।

8.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. सर मॉर्टिमर व्हीलर, 1990 'पृथ्वी से पुरातत्त्व' हिन्दी माध्यम निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय।
2. एच0 डी0 सांकलिया,1969. पुरातत्त्व परिचय', डेक्कन कालेज, पूना।
3. के0 राजन, 2002 'आर्कियोलॉजीः प्रिंसिपल एण्ड मेथड्स,' मनू पाथ्पिक्कम, तंजौर।
4. आर0 के0 वर्मा, 'क्षेत्रीय पुरातत्त्व' इलाहाबाद
5. वी0 के0 पाण्डेय, 2017 'पुरातत्त्व मीमांसा', शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद।
6. अग्रवाल, डी0पी0 .1984. *द आर्कियोलॉजी ऑफ इण्डिया.* सेलेक्ट बुक सर्विस सिन्डीकेटः नई दिल्ली।
7. जैन, वी0के0 .2006. *प्रीहिस्ट्री एण्ड प्रोटोहिस्ट्री ऑफ इण्डियाः एन अप्रेजल.* डी0के0 प्रिन्टवर्ल्डः न्यू दिल्ली।
8. पाण्डेय, जे0एन0 2008. *पुरातत्त्व विमर्श.* प्राच्य विद्या संस्थानः इलाहाबाद।
9. भट्टाचार्य, डी0के0 2007. *भारतीय प्रागैतिहास की रूपरेखा.* पलका प्रकाशनः दिल्ली।
10. गोयल, श्रीराम. 2008. *प्रागैतिहासिक मानव और संस्कृतियाँ.* विश्वविद्यालय प्रकाशनः वाराणसी।
11. शर्मा, जी0आर0 1985. *भारतीय संस्कृतिः पुरातात्विक आधार, नई दिल्ली* : नेशनल पब्लिशिंग हाउस।
12. कुशवाहा, संजय कुमार, 2016. *प्रागैतिहासिक संस्कृति के विविध पक्ष,* वाराणसीः कला प्रकाशन.
13. जायसवाल, विदुला. 1989. *भारतीय इतिहास का मध्य–प्रस्तर युग.* स्वाती प्रकाशनः दिल्ली।
14. दुबे, अनिल कुमार .2005. *मध्यगंगा घाटी में अधिवास प्रक्रिया* (जौनपुर जनपद के विशेष सन्दर्भ में) इलाहाबादः स्वाभा प्रकाशन।
15. मिश्रा, वी0डी0 1997. *सम ऑसपेक्ट्स ऑफ इण्डियन आर्कियोलाजी.* प्रभात प्रकाशनः इलाहाबाद।

8.11 बोध प्रश्न

- निरपेक्ष तिथि विधि पर निबन्ध लिखिए।
- रेडियों कार्बन प्रणाली सी–14 की विवेचना कीजिए।
- पोटैशियम आर्गन तिथि विधि पर प्रकाश डालिए
- ऊष्मादीप्ति तिथि विधि एवं वृक्षवलय कालानुक्रम की विशेषता को

इकाई–9 स्तरीकरण

इकाई की रूपरेखा

9.1 प्रस्तावना

9.2 उद्देश्य

9.3 स्तरीकरण

9.4 स्तर निर्माण की प्रकिया

9.5 स्तर पृथक्करण

9.6 सारांश

9.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

9.8 बोध प्रश्न

9.1 प्रस्तावना

स्तर विज्ञान (Stratigraphy) – पृथ्वी के अन्दर भूपटल की बनावट के विभिन्न स्तरों के निश्चित अनुक्रम को स्तरीकरण की संज्ञा दी गयी है। मिट्टी, बालू, कंकड आदि के संचय से पृथ्वी के स्तरों के निर्माण में जल तथा वायु प्रमुख रूप से सहायक हैं। **पिट रिवर्स ने स्तरीकरण की नींव मिस्त्र** में डाली थी। भारत में पुरातात्विक स्तरीकरण के सिद्धान्त को प्रतिष्ठित करने का श्रेय **मार्टीमर व्हीलर** को है। स्तरीकरण की सहायता से विभिन्न सभ्यताओं के क्रम तथा किसी सभ्यता के क्रमिक विकास के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त की जा सकती है। सांस्कृतिक कालों का अनुक्रम सदैव नीचे से ऊपर को निर्धारित किया जाता है।

9.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान सकेंगे–

- स्तरीकरण के विषय में
- पुरातात्विक स्तरों के निर्माण की प्रक्रिया को
- स्तरों की पृथक पहचान एवं उनके पारस्परिक सम्बन्धों को

9.3 स्तरीकरण (Stratigraphy)

स्तरीकरण के सिद्धान्त का उपयोग ब्रिटेन के भूगर्भशास्त्री **चार्ल्स लिएल** ने सन् 1830–33 में किया था, जिसे पुरातत्त्व के अध्ययन के लिए उपयोगी समझा गया। पुरातत्त्व का सबसे महत्वपूर्ण अंग पुरातात्त्विक स्तरीकरण है। पुरातत्त्व की सम्पूर्ण प्रक्रिया स्तरीकरण के सिद्धानत पर आधारित है, जिसका मूल आधार अध्यारोपण (Superimposition), एकरूपता (Uni-formitarianism), अनुक्रम (Sequence) है। **चार्ल्स लिएल** के अध्यारोपण के सिद्धान्त के अन्तर्गत यदि ''पृथ्वी में कोई उथल–पुथल नही हुयी है तो निम्नतम वस्तु प्राचीन होगी तथा उसके ऊपर आधारित अथवा स्थित वस्तु बाद की होगी।''

स्तरीकरण के अध्ययन में पृथ्वी के अन्दर हुए विभिन्न प्रकार के जमावों का अध्ययन किया जाता है। ये जमाव एक निश्चित कालक्रम में हुए निर्माण या बनावट को दर्शाते हैं। स्तर–विन्यास एक प्राकृतिक प्रक्रिया है। मिट्टी, बालू, कंकड आदि के संचय से पृथ्वी के स्तरों के निर्माण में जल तथा वायु की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। स्तर शब्द के लिए अंग्रेजी भाषा के 'Strata' शब्द का प्रयोग होता है। इस शब्द का प्रयोग भूगर्भशास्त्र में विलियम स्मिथ द्वारा किया गया। भूगर्भशास्त्र में इसका प्रयोग पृथ्वी की परतों के लिए किया गया जिनसे धरती के बाहरी भाग का निर्माण हुआ। किन्तु पुरातत्त्व में भूमि की जमाव की प्रक्रिया के साथ–साथ मानव के क्रिया–कलापों व प्रभाव के विषय में अध्ययन की ओर विशेष बल दिया जाता है। स्तरीकरण के क्षेत्र में जॉन मार्शल तथा मार्टीमर व्हीलर का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है। पिट रिवर्स ने पुरातात्त्विक स्तरीकरण के वैज्ञानिक अध्ययन एवम् विवेचन की नींव डाली।

स्तरीकरण की सहायता से विभिन्न सभ्यताओं के क्रम तथा किसी सभ्यता के क्रमिक विकास के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त की जा सकती है। मनुष्य जहाँ कहीं बसता है, वहीं उसकी सभ्यता बाढ़–भूचाल, बाह्य आक्रमण, अन्य प्राकृतिक विपदाओं आदि से नष्ट हो जाती है और उसी सभ्यता के ऊपर बाद में दूसरी सभ्यता बसती है। पुरातात्विक स्तर पृथ्वी की अपेक्षाकृत नवीन परते हैं जिनमें मनुष्य व उसकी गतिविधियों के प्रमाण सुरक्षित हैं।

स्तरीकरण के माध्यम से उत्खनित पुरास्थल से प्राप्त संस्कृतियों का क्रम निश्चित किया जाता है। चूंकि जिस संस्कृति का पदार्पण या प्रादुर्भाव सर्वप्रथम हुआ है, वह सबसे निचले स्तरों से प्राप्त होगी और जिसका प्रादुर्भाव बाद में हुआ वह नवीन एवं ऊपरी स्तर से प्राप्त होगी। अध्ययन के लिए इन संस्कृतियों को नीचे से ऊपर की ओर रोमन अंको (I, II, III) में लिखा जाता है और स्तरों के ऊपर से नीचे की तरफ 1,2,3 अंकों में अंकित किया जाता है।

9.4 स्तर निर्माण की प्रकिया

पुरातात्विक स्तरों का निर्माण एक सतत प्रक्रिया है, जो पृथ्वी पर मनुष्य के आविर्भाव के साथ ही आरम्भ हुयी तथा निरन्तर चलती आ रही है। सामान्यतः पृथ्वी मुख्य रूप से जल व वायु के माध्यम से मिट्टी, बालू तथा कंकड आदि का संचय करके स्तर का निर्माण करती है।

मानव स्वभावतः क्रियाशील होता है और यह एक सर्वविदित तथ्य है कि जिस स्थल पर मानव अपना जीवन व्यतीत करता है, उस स्थल पर उपकरणों एवं खाद्य पदार्थों एवं अन्य जीवनोपयोगी वस्तुओं के रूप में अपनी संस्कृति की स्मृतियाँ छोड़ जाता है, जिन्हें सामान्यतः पुरानिधियाँ कहा जाता है। मानव के निवास के प्रतीक सम्बन्धी तथ्य पृथ्वी के धरातल पर पड़े रहते हैं एवं वायु व जल के सम्पर्क में आकर संचित होने वाली मिट्टी की नवीन परतों द्वारा आवृत हो जाता है। इस प्रकार जो सामग्री मिट्टी में दब जाती है, धीरे–धीरे स्तर का रूप ले लेती है।

9.5 स्तर पृथक्करण

स्तरों की पृथक पहचान एवं उनके पारस्परिक सम्बन्धों को निर्धारित करने के उपरान्त उत्खननकर्ता पुरास्थल के सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को भली–भाँति समझकर उसके सुस्पष्ट निर्वचन और प्रस्तुतीकरण में समर्थ होता है। परत की मिट्टी के रंग तथा बनावट के आधार पर भी स्तरों में भिन्नता पायी जाती है। स्तरों के आधार पर ट्रेंच में मिली हुई वस्तुओं के आधार पर काल को निर्धारित किया जाता है कि सम्बन्धित स्थान पर एक ही संस्कृति के पल्लवित होने के प्रमाण मिलते हैं या एक से अधिक संस्कृतियों का कालानुक्रम ज्ञात होता है।

स्तरीकरण के अध्ययन से मानव की उत्पत्ति या उसके पृथ्वी पर होने के समय से लेकर आज तक के विषय में भी ज्ञात होता है। पाषाण युग के मानव के क्रिया–कलापों, रहन–सहन तथा पर्यावरण के विशेष सन्दर्भ में ठोस जानकारी प्राप्त करने के लिए स्तरीकरण पुराविदों के लिए अहम माध्यम है।

स्तरीकरण के माध्यम से प्रातिनूतन काल तथा नूतन काल के विषय में महत्वपूर्ण सूचनाएँ मिलती हैं। प्रातिनूतन कालीन जमावों से फ्लोरा तथा फौना से तत्कालीन पर्यावरण के विषय में जानकारी प्राप्त होती है। पाषाणकालीन जमावों से बहुत अधिक संख्या में फ्लोरा की प्राप्ति नहीं हो सकी है, क्योंकि फ्लोरा अनुकूल स्थिति न होने पर नष्ट हो जाती है। नेवासा से एक लकड़ी का टुकड़ा ग्रेवेल के

प्रारम्भिक जमावों से मिला है। समय के साथ–साथ व पर्यावरण में परिवर्तन के फलस्वरूप मानव ने धीरे–धीरे कृषि करना सीख लिया था। उत्तरी राजस्थान की सॉल्ट लेक से परागकण की प्राप्ति हुई है।

उसकी तिथि को 7000 ई0 पू0 रखा गया है। इस समय का पर्यावरण अपेक्षाकृत आर्द्र था। कोल्डिहवा से लगभग 6000 ई0 पू0की तिथि प्राप्त होती है। हारवेस्टर (पत्थर का चाकू), Ring Stine, सिल–बट्टा आदि की प्राप्ति नवपाषाणकालीन पुरास्थलों से हुई है। इन उपकरणों की प्राप्ति से यह अनुमान किया जा सकता है कि इस समय मानव द्वारा अनाज के दानों का प्रयोग भोज्य सामग्री के रूप में किया जाने लगा होगा। कालीबंगा से प्राक्हड़प्पाकालीन जुते हुए खेत की प्राप्ति से यह कहा जा सकता है कि खेतों की जुताई कृषि कार्य के लिए की जाती थी। हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ों से गेंहूँ व जौ के प्रमाण मिले हैं वहीं लोथल तथ रंगपुर से चावल के छिलके का प्रमाण मिला है।

फ्लोरा की भाँति फौना का भी स्तरीकरण में विशेष महत्व है। इसके माध्यम से तत्कालीन जीव–जन्तुओं का अध्ययन किया जाता है। साथ ही पर्यावरण के परिवर्तनों का अध्ययन किया जाता है। प्रातिनूतन काल के प्रारम्भ में कई नवीन प्रजातियों के होने की सूचना मिलती है, जिनमें से कुछ समाप्त हो गयी और कुछ नवीन प्रजातियों का उद्भव इस काल में हुआ।Fauna की सहायता से तत्कालीन पर्यावरण जैसे– हिमयुग, अन्तर्हिमयुग के विभिन्न चरणों तथा उसकी महत्ता का अध्ययन किया जाता है। प्रातिनूतन काल के जमावों से विशालकाय पशु–जीवाश्मों के होने के प्रमाण मिलते हैं। इस काल में Wolly Mammoths तथा Rhinoceros की प्राप्ति यहाँ के ठण्डे पर्यावरण की ओर इशारा करती है। Interglacial Period की प्रमुख स्पीसीज Straight task Woodlands Elephant, Woodlands Rhinoceros, African Hippopotamus इत्यादि थी।

स्तरीकरण के माध्यम से नदी वेदिकाओं के जमाव की प्रक्रिया का अध्ययन किया जाता है। नदी वेदिकाओं के निर्माण में पर्यावरण का परिवर्तन, भूकम्प, भूस्खलन तथा अन्य प्राकृतिक कारक जिम्मेदार होते हैं। प्रातिनूतन कालीन जमाव में हमें प्रमुखता से Boulder Conglomerate, Sandy Gravel Pebble, Sandy Gravel का जमाव स्तरीकृत रूप से प्राप्त होता है। प्रायद्वीपीय भारत की अधिकांश नदी वेदिकाओं से प्रारम्भिक पाषाण काल के उपकरण (Pebble, handaxe इत्यादि) ठोस Cemented Gravel से प्राप्त हुए है।

और Cemented Gravel Deposit, Silt, Fine Gravel आदि के जमाव से ढके हुए थे। नदी वेदिकाओं से प्राप्त संस्कृतियों के उदाहरणस्वरूप सोहन संस्कृति के जमावों का विशेष महत्व है। नदी–वेदिकाओं के आलावा शैलाश्रयों से भी प्रातिनूतन कालीन स्तरीकृत जमाव मिले हैं। विश्व के परिपेक्ष्य में उत्तरी स्पेन की कैस्टीलो नामक गुफा महत्वपूर्ण है। यहाँ से पश्चिम यूरोप की अधिकांश संस्कृतियों के प्रमाण प्राप्त हुए हैं। भारत के परिप्रेक्ष्य में **भीमबेटका** आदि शैलाश्रयों से भी प्रतिनूतनकालीन जमाव स्तरीकृत रूप से प्राप्त हुए हैं।

9.6 सारांश

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण के आधार पर कहा जा सकता है कि स्तरीकरण की विधा का प्रयोग जब से पुरातत्त्व विज्ञान के साथ शुरू हुआ है तब से पुरातात्विक अध्ययन करने की प्रक्रिया आसान और वैज्ञानिक हुई है। स्तरीकरण के माध्यम से किसी प्राचीन स्थल की प्राचीनता और सांस्कृतिक अनुक्रम को निर्धारित कर, पुरास्थल की महत्ता को स्थापित किया जाता है। भारत के बहुत से पुरास्थलों जिसमें सोहन नदी घाटी, भीमबैठका, आदमगढ़, अतरंजीखेड़ा, हस्तिनापुर, कौशाम्बी, चिरांद, कालीबंगां, लहुरादेवा, खैराडीह, पक्काकोट, अगियाबीर, राजघाट, प्रह्लादपुर इत्यादि की महत्ता ऐतिहासिकता और सांस्कृतिक अनुक्रम को स्तरीकरण के माध्यम से निर्धारित किया गया है।

9.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. सर मॉर्टिमर व्हीलर, 1990 'पृथ्वी से पुरातत्त्व' हिन्दी माध्यम निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय।
2. एच0 डी0 सांकलिया,1969. पुरातत्त्व परिचय', डेक्कन कालेज, पूना।
3. के0 राजन, 2002 'आर्कियोलॉजीः प्रिंसिपल एण्ड मेथड्स,' मनू पाथ्पिक्कम, तंजौर।
4. आर0 के0 वर्मा, 'क्षेत्रीय पुरातत्त्व' इलाहाबाद
5. वी0 के0 पाण्डेय, 2017 'पुरातत्त्व मीमांसा', शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद।

6- अग्रवाल, डी0पी0 .1984. *द आर्कियोलॉजी ऑफ इण्डिया.* सेलेक्ट बुक सर्विस सिन्डीकेटः नई दिल्ली।

7- जैन, वी0के0 .2006. *प्रीहिस्ट्री एण्ड प्रोटोहिस्ट्री ऑफ इण्डियाः एन अप्रेजल.* डी0के0 प्रिन्टवर्ल्डः न्यू दिल्ली।

8- पाण्डेय, जे0एन0 2008. *पुरातत्त्व विमर्श.* प्राच्य विद्या संस्थानः इलाहाबाद।

9. शर्मा, जी0आर0 1985. *भारतीय संस्कृतिः पुरातात्विक आधार, नई दिल्ली* : नेशनल पब्लिशिंग हाउस।

10. जायसवाल, विदुला. 1989. *भारतीय इतिहास का मध्य–प्रस्तर युग.* स्वाती प्रकाशनः दिल्ली।

11. दुबे, अनिल कुमार .2005. *मध्यगंगा घाटी में अधिवास प्रक्रिया* (जौनपुर जनपद के विशेष सन्दर्भ में) इलाहाबादः स्वाभा प्रकाशन।

12. मिश्रा, वी0डी0 1997. *सम ऑसपेक्ट्स ऑफ इण्डियन आर्कियोलाजी.* प्रभात प्रकाशनः इलाहाबाद।

9.8 बोध प्रश्न

- स्तरकीरण पर निबन्ध लिखिए।
- पुरातात्विक स्तरों के निर्माण की प्रक्रिया को स्पष्ट कीजिए।

इकाई–10 नवीन पुरातत्त्व

इकाई की रूपरेखा

10.1 प्रस्तावना

10.2 उद्देश्य

10.3 नवीन पुरातत्त्व

10.3.1 प्रक्रियात्मक पुरातत्त्व

10.3.2 व्यवहारात्मक पुरातत्त्व

10.3.3 उत्तर प्रक्रियात्मक पुरातत्त्व

10.3.4 विचारधारा का प्रभाव

10.4 सारांश

10.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

10.6 बोध प्रश्न

10.1 प्रस्तावना

पुरातत्त्व विषय का अध्ययन जब से किया जाना प्रारम्भ हुआ तब से लेकर आज तक बहुत से बदलाब हुए। इन बदलावों के साथ पुरातत्त्व विषय में नये आयाम जुड़ते गये और क्रमशः इसका महत्व बढ़ता गया। पुरातत्त्व के अध्ययन में जैसे–जैसे वैज्ञानिक तकनीकों का प्रयोग होना शुरू हुआ वैसे–वैसे पुरातत्त्व का दायरा बढ़ता गया और पुराविदो द्वारा समय–समय पर नये–नये पुरातत्त्व प्रकारों/शाखाओं की चर्चा की जाने लगी। इसी तरह नव पुरातत्त्व, पुरातत्त्व का कोई भाग नहीं है बल्कि यह पुरातात्त्विक अध्ययन की नवीन पद्धति और सिद्धान्त है।

10.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान सकेंगे–

- नवीन पुरातत्त्व के अर्थ को
- व्यवहारात्मक पुरातत्त्व के विषय में
- उत्तर प्रक्रियात्मक पुरातत्त्व को
- नवीन पुरातत्त्व की विशेषता को

10.3 नवीन पुरातत्त्व

नव पुरातत्त्व (New Archaeology)

नव पुरातत्त्व, पुरातत्त्व का कोई भाग नहीं है बल्कि यह पुरातत्त्व अध्ययन की नवीन पद्धति और सिद्धान्त है। 1960 के दशक में लेविज बिनफोर्ड, फ्लेनरी और डेविड क्लार्क ने 'नव पुरातत्त्व (New Archaeology) के दृष्टिकोण को प्रतिपादित किया था। अब इसे ''प्रक्रियात्मक पुरातत्त्व'' (Processual Archaeology) कहा जाता है। नव पुरातत्त्व मानव व्यवहार के सामान्य तथ्यों की खोज में सिद्धान्त निर्माण, मॉडल निर्माण और परिकल्पना परीक्षण पर जोर देता है। नव पुरातत्त्व में कार्य करने के लिए प्रक्रियावादियों के पास दो उपकरण थे, एक 'नृवंश विज्ञान और दूसरा सांख्यिकीय तकनीक'। ये दोनों उपकरण अभी भी पुरातत्त्व में काम करते हैं, दोनों को 1960 के दशक में पहली बार अपनाया गया था।

पुरातात्त्विक अध्ययन के इस नवीन दृष्टिकोण को यंग पुरातात्त्वविद लेविस बिनफोर्ड (Lewis Binford) के द्वारा 'नव पुरातत्त्व' का नाम दिया गया था। लेविस बिनफोर्ड ने आखेट एवं संग्राहक जीवन जीने वाली छोटी टुकड़ी द्वारा छोड़े गये अवशेषों का प्रक्रियात्मक नृवंशविज्ञानी अध्ययन 1980 ई0 में किया। बिनफोर्ड स्पष्ट रूप से दोहराने योग्य प्रतिरूक्ति प्रक्रियाओं के साक्ष्य की तलाश में थे, एक ''नियत्रित परिवर्तनशीलता'' जिसे उच्च पुरापाषाण की शिकारी और आखेटक जनजातियों द्वारा छोड़े गये थे, पुरातात्त्विक स्थलों पर दिखाई देते हैं और प्राप्त किये जा सकते हैं।

डेविड क्लार्क भी नव पुरातत्त्व के प्रधान समर्थकों में से एक थे, जिन्होंने अपना विचार ''एनालिटिकल आर्कियोलॉजी'' नामक पुस्तक में व्यक्त किया है। इस काम में वह इस बात पर जोर देते हैं कि प्रश्नों का एक सेट महत्वूपूर्ण हैं, फिर उत्तर का एक सेट जैसे–जैसे नव पुरातत्त्व के अध्ययन की प्रक्रिया पुरानी होती गयी और विचार के शरीर के रूप में विकसित होती गई, इसे प्रक्रियावाद के रूप में जाना जाने लगा। प्रक्रियात्मक पुरातत्त्व आदि मानव के पशु एवं वनस्पति खाद्य–संसाधनों के निर्धारण के लिए पर्यावरण के अध्ययन पर काफी बल देता है।

पुरातत्त्व में वैज्ञानिक विधियाँ अपनाने का प्रारम्भ बीसवीं सदी के प्रारम्भ में ही हो गया था, जब आर0 पम्बेइल ने अनेई के उत्खनन में अनेक वैज्ञानिकों की सहायता ली। ग्राहम क्लार्क ने पुरातत्त्व में पर्यावरण के महत्व पर बल दिया। 1948 में डब्लू टेलर (W. Tayler) ने Conjection Approach को प्रस्तुत किया। टेलर ऐसे पहले व्यक्ति है जिन्होंने पुरातात्त्विक समस्याओं के हल के लिए conjection approach की चर्चा की। इस विधि को Contextual Approach भी कहा गया है। क्योंकि इसमें पुरावशेषों को साक्ष्यों के सन्दर्भ में रखकर इसका अध्ययन करते है। ये कुछ ऐसे उदाहरण है जिनसे ये आभास होता है कि कुछ वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग पुरातत्त्व में हो रहा था। कॉलिन रेनफ्रु ने 1900 से 1960 ई0 तक के काल को मरणासन्न काल कहा है। क्योंकि इसमें कोई विशेष प्रगति नहीं हुई थी। 1962 में बिनफोर्ड के एक शोध पत्र "Archaeology and Anthropology" और डेविड क्लार्क ने बीकर (Biker) पात्र प्रकारों का अध्ययन किया।

इन लोगों ने अपने अध्ययन में सांख्यकी विधि को अपनाया चूँकि वैज्ञानिक विधि का विकाश या प्रारम्भ 1962 के दशक में बहुत तेजी से हुआ, जिसके परिणामस्वरूप पुरातत्त्व ने एक विज्ञान के रूप अपना स्थान बनाया। नवीन पुरातत्त्व उत्खनन की विधियों में विशेषकर क्षैतिज्ञ उत्खनन की विधि में कोई परिवर्तन की बात नहीं करता है। लेकिन नव पुरातत्त्व में साक्ष्य संकलन की विधि और उसकी व्याख्या के ऊपर विशेष बल दिया गया है। बिनफोर्ड का यह मानना है कि यदि हम कोई उत्खनन करते हैं तो उत्खनन के पूर्व हमें अनुमान या परिकल्पना का पालन करना चाहिए। भारत के सन्दर्भ में इस विधि का प्रयोग महाराष्ट्र के पूना जिले में ''वाल्की'' नामक स्थान पर किया गया। जोकि जोर्वे संस्कृति का छोटा स्थल है, जो एक हेक्टेयर का है। सर्वेक्षण के आधार पर यह परिकल्पना विकसित हुई कि यह मौसमी प्रवास स्थल है जो यहाँ पर आकर लोग खेती करते रहे होंगे और चले जाते रहे होंगे।

बाल्की के उत्खनन से 85 टूटे–फूटे आवासीय झोपड़ियों के साक्ष्य मिले हैं। इन झोपड़ियों में दीवालों का अभाव इस अनुमान पर बल देता है कि इसका प्रयोग वर्षा ऋतु में नहीं होता होगा। और अनुमानतः जाड़े में ये लोग यहाँ पर आकर रहते होंगे। क्योंकि गर्मी में यहाँ खेती नहीं होती थी। जोर्वे संस्कृति के अन्य स्थलों से स्पष्ट है कि यहाँ का मुख्य अन्न जौ था।

दूसरा उदाहरण इसी सन्दर्भ में कुन्तासी का है जो गुजरात में है, ये हडप्पा संस्कृति का छोटा सा स्थल है। यहाँ से 'एंकर स्टोन' (Anchar Stone) का प्रमाण मिला, जिसके आधार पर यह कहाँ गया है कि यह बन्दरगाह स्थल है। स्थानीय लोगों ने बताया कि मुस्लिम यहाँ से 200 वर्ष पूर्व हज के लिए जाया करते थे। इस समय समुद्र 'कुन्तासी' से लगभग 400 किमी0 दूर चला गया है। मीठा पानी पुरास्थल के आस–पास नहीं मिलता है, नदी का पानी खारा है (त्रिपाठी, 2010)। इसलिए यह सोचना उपयुक्त है कि यह कोई कृषि का पुरास्थल नहीं रहा होगा, बल्कि एक छोटा बन्दरगाह हड़प्पा संस्कृति का रहा होगा। 'नव पुरातत्त्व' का यह कहना है कि भारत में जो भी उत्खनन होते हैं वह बिना अनुमान या परिकल्पना के होते हैं तथा साक्ष्यों का संकलन बिना किसी अनुमान के होता है, जिसके परिणाम स्वरूप महत्वपूर्ण साक्ष्यों का अभाव होता है।

इसके अनुसार जो साक्ष्य है उनका पूर्णरूप से विश्लेषण करना चाहिए। यह जानने के लिए हमारी परिकल्पना प्रभावित होती है या नहीं इस आधार पर साक्ष्य को देखना चाहिए।

इसके अलावा पुरातत्त्व के और भी कई प्रकार प्राप्त होते हैं इसमें युद्धक्षेत्र पुरातत्त्व, प्रायोगिक पुरातत्त्व, ऐतिहासिकपुरातत्त्व, लैण्डस्कैप पुरातत्त्व एवं सार्वजनिक पुरातत्त्व इत्यादि हैं। सार्वजनिक

पुरातत्त्व का महत्व वर्तमान समय में ज्यादा उपयोगी हो गया है क्योंकि पुरातात्त्विक महत्व की वस्तुओं से लोगों को परिचित एवं जागरूक कराकर ज्यादा से ज्यादा सुरक्षित करना है। इसलिए सभी के लिए संग्रहालय खोले जा रहे हैं और कुछ लोगों को शिक्षण और प्रशिक्षण देकर तथा पुरातात्त्विक स्थलों के भ्रमण की व्यवस्था का प्रबन्ध भी किया जा रहा है, ताकि अपनी संस्कृतिक विरासत को सुरक्षित रखा जा सके।

10.3.1 प्रक्रियात्मक पुरातत्व

1960 के दशक में कई युवा प्राथमिक तौर पर लेविस बिनफोर्ड जैसे अमेरिकी पुरातत्वविदों ने सांस्कृतिक इतिहास के मानदंडों के खिलाफ बगावत की। उन्होंने एक ''नये पुरातत्व'' का प्रस्ताव किया, जो और अधिक ''वैज्ञानिक'' और ''मानव वैज्ञानिक'' था। उन्होंने संस्कृति को व्यवहारात्मक प्रक्रियाओं और परंपराओं के एक सेट के रूप में देखा। प्रक्रियावादियों ने परिकल्पना परीक्षण और वैज्ञानिक पद्धति के विचार से यथार्थवादी विज्ञानों को ग्रहण किया। उनका मानना था कि एक पुरातत्वविद् को अध्ययन के तहत ली गई एक संस्कृति के बारे में एक या अधिक परिकल्पनाएं विकसित करनी चाहिए और ताजा सबूतों के खिलाफ इन परिकल्पनाओं के परीक्षण के इरादे से खुदाई करनी चाहिए। वे पुरानी पीढ़ी के उपदेशों से भी निराश हो गये, जिसके माध्यम से संस्कृतियों ने स्वयं का अध्ययन किये जा रहे लोगों पर अग्रगामिता ले ली। यह बड़े पैमाने पर नृविज्ञान के सबूत के माध्यम से स्पष्ट होता जा रहा था कि जातीय समूहों और उनके विकास पुरातात्त्विक रिकॉर्ड में संस्कृतियों के साथ हमेशा पूरी तरह से अनुकूल नहीं थे।

10.3.2 व्यवहारात्मक पुरातत्व

1970 के दशक के मध्य में माइकल बी स्चीफर द्वारा पुरातात्त्विक सामग्रियों के अध्ययन का एक दृष्टिकोण विकसित किया गया, जिसके तहत मानव व्यवहार और व्यक्तिगत कार्यों, खासकर भौतिक संस्कृति के निर्माण, उपयोग और निपटारे के संदर्भ में, के विश्लेषण की विशेष सुविधा मिली। विशेष रूप से इसमें यह देखने और समझने पर ध्यान केंद्रित किया गया कि लोगों ने वास्तव में क्या किया था, जबकि उस व्यवहार की व्याख्या करने में लोगों के विचारों और इरादों को ध्यान में रखने से परहेज किया गया।

10.3.3 उत्तर प्रक्रियात्मक पुरातत्व

1980 के दशक में ब्रिटिश पुरातत्वविदों माइकल शैंक्स, क्रिस्टोफर टिली, डैनियल मिलर और इयान होडर के नेतृत्व में एक नया आंदोलन उठ खड़ा हुआ। इसने विज्ञान के प्रतिप्रक्रियावाद के प्रति

आकर्षण और निष्पक्षता पर यह दावा करते हुए सवाल उठाया कि वास्तव में हर पुरातत्त्वविद् अपने या अपने व्यक्तिगत अनुभव और पृष्ठभूमि द्वारा पूर्वाग्रह से ग्रस्त होता है और इस प्रकार सही मायने में वैज्ञानिक पुरातात्त्विक काम मुश्किल या असंभव है। यह खासकर पुरातत्त्व में पूरी तरह सच है, जहां प्रयोग (खुदाई) दूसरों द्वारा संभवतः नहीं दोहराया जा सकता, जैसा कि वैज्ञानिक पद्धति कहती है। इस सापेक्षकीय पद्धति को उत्तर प्रक्रियात्मक पुरातत्त्व कहा जाता है। उत्तर प्रक्रियात्मक पुरातत्त्व के समर्थकों ने न केवल अपनी खुदाई से निकले सामग्रिक अवशेषों, बल्कि अपने दृष्टिकोणों और विचारों का विश्लेषण किया। पुरातात्त्विक साक्ष्य के प्रति विभिन्न दृष्टिकोणों, जिसे हर व्यक्ति अपनी (पुरुष या स्त्री) व्याख्या करता है, का परिणाम प्रत्येक व्यक्ति के लिए अतीत के विभिन्न निर्माणों के रूप में निकलता है। ऐसे क्षेत्रों में इस दृष्टिकोण का लाभ आगंतुक की व्याख्या, सांस्कृतिक संसाधन प्रबंधन और पुरातत्त्व में नैतिकता, साथ ही साथ क्षेत्र कार्य के रूप में दिखता है। इसे संस्कृति के इतिहास के साथ समानांतर रूप से देखा गया है। हालांकि, प्रक्रियावादी इसे बिना वैज्ञानिक योग्यता वाला कहकर आलोचना करते हैं। वे बताते हैं कि स्वयं का विश्लेषण किसी परिकल्पना को और अधिक मान्य नहीं करता, क्योंकि एक वैज्ञानिक के हस्तकृति की तुलना में खुद के बारे में पूर्वाग्रहग्रस्त होने की अधिक संभावना होती है और अगर आप खुदाई की

पुनरावृति नहीं कर सकते तो आपको जितना गहन रूप से संभव हो विज्ञान का पालन करने की कोशिश करनी चाहिए। आखिरकार, बरामद की गई हस्तकृतियों या खुदाई से मिली जानकारी के आधार पर बने तंत्र सिद्धांतों पर ही पूरी तरह से वैज्ञानिक प्रयोग किये जा सकते हैं।

उत्तर–प्रक्रियावाद ने उन सभी के लिए छत्रछाया का काम किया, जिन्होंने संस्कृति के प्रक्रियात्मक मॉडल को गलत ठहराया, जिसे उदाहरण के लिए कई नारीवादियों और नव मार्क्सवादी पुरातत्वविदों द्वारा लोगों को नासमझ स्वचलन के रूप में मानने और उनके व्यक्तित्व की अवहेलना करने के तौर पर माना जाता है।

पुरातात्विक सिद्धांत का यह फर्क दुनिया के सभी भागों में हूबहू नहीं विकसित हुआ, जहां पुरातत्व या इस ज्ञानक्षेत्र के कई उप क्षेत्रों में मौजूद था। परंपरागत विरासत संबंधी आकर्षण अक्सर अपनी व्याख्या सामग्री में एक सत्य लगने वाले और समझ में आने वाले सांस्कृतिक इतिहास तत्व को बरकरार रख सकते हैं, जबकि विश्वविद्यालय के पुरातात्त्विक विभाग अतीत को समझने और समझाने के और अधिक गूढ़ तरीकों का पता लगाने का वातावरण प्रदान करते हैं। ऑस्ट्रेलियाई पुरातत्वविदों और कई दूसरों, जो स्वदेशी लोगों के साथ काम करते हैं और जिनके विरासत संबंधी विचार पश्चिमी

अवधारणाओं से अलग होते हैं, ने उत्तरप्रक्रियावाद को अपनाया है। संयुक्त राज्य अमेरिका में हालांकि व्यावसायिक पुरातत्वविद् मुख्यतः प्रक्रियावादी हैं और यह पिछला दृष्टिकोण उन अन्य देशों में आम है, जहां वाणिज्यिक सांस्कृतिक संसाधन प्रबंधन प्रचलित है।

10.3.4 विचारधारा का प्रभाव

पुरातत्त्व एक सांस्कृतिक, लिंग संबंधी और राजनीतिक युद्धभूमि रहा है और अब भी है। कई समूहों ने कुछ वर्तमान सांस्कृतिक या राजनीतिक बात साबित करने के लिए पुरातत्त्व के उपयोग की कोशिश की है। यूएसएसआर/ USSR (सोवियत संघ) और ब्रिटेन (दूसरों के अलावा) में मार्क्सवादी या मार्क्सवाद–प्रभावित पुरातत्वविदों ने अक्सर द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का सत्य साबित करने और सामाजिक परिवर्तन पैदा करने में भूमिका समूहों (जैसे पुरुष बनाम स्त्री, अग्रज बनाम अनुज, मालिक बनाम श्रमिक) के बीच संघर्ष की अतीत (और वर्तमान) की भूमिका को उजागर करने का प्रयास किया है।

कुछ समकालीन सांस्कृतिक समूहों ने सफलता की विभिन्न मात्राओं के साथ पुरातत्व का उपयोग जमीन के एक क्षेत्र के स्वामित्व के अपने ऐतिहासिक अधिकार साबित करने की कोशिश की है। पुरातत्व विभाग के कई समूह पितृसत्तात्मक रहे हैं, जो यह सोचते हैं कि प्रागैतिहासिक पुरुष सबसे अधिक भोजन शिकार द्वारा ही हासिल करते थे और महिलाएं समूह में कम पोषण का उत्पादन करती थीं और अधिक हाल के अध्ययनों में इस तरह के कई सिद्धांतों की अपर्याप्तता उजागर हो गई है। कुछ पश्चिमी सभ्यता के सतत उर्ध्व प्रगति के समर्थन में तीन युगों वाली प्रणाली में ''महान युग'' के सिद्धांत को अंतर्निहित करते हैं। अधिक समकालीन पुरातत्त्व नव डार्विन विकासवादी विचार, घटना विज्ञान, उत्तर–आधुनिकतावाद, एजेंसी सिद्धांत, संज्ञानात्मक विज्ञान, प्रकार्यवाद, लिंग आधारित और नारीवादी पुरातत्त्व और प्रणाली सिद्धांत द्वारा प्रभावित हैं।

10.4 सारांश

इस प्रकार कहा जा सकता है कि भारत में जो भी उत्खनन होते हैं वह बिना अनुमान या परिकल्पना के होते हैं तथा साक्ष्यों का संकलन बिना किसी अनुमान के होता है, जिसके परिणाम स्वरूप महत्वपूर्ण साक्ष्यों का अभाव होता है। नवीन पुरातत्त्व के अनुसार जो भी साक्ष्य है उनका पूर्णरूप से विश्लेषण करना चाहिए। यह जानने के लिए हमारी परिकल्पना प्रभावित होती है या नहीं इस आधार पर साक्ष्य को देखना चाहिए।

10.4 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. अग्रवाल, डी0पी0 .1984. *द आर्कियोलॉजी ऑफ इण्डिया.* सेलेक्ट बुक सर्विस सिन्डीकेटः नई दिल्ली।
2. सर मॉर्टिमर व्हीलर, 'पृथ्वी से पुरातत्त्व' हिन्दी माध्यम निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय।
3. एच0 डी0 सांकलिया, पुरातत्त्व परिचय', डेक्कन कालेज, पूना।
4. के0 राजन, 'आर्कियोलॉजीः प्रिंसिपल एण्ड मेथड्स,' मनू पाथ्पिक्कम, तंजौर।
5. आर0 के0 वर्मा, 'क्षेत्रीय पुरातत्त्व' इलाहाबाद
6. वी0 के0 पाण्डेय, 'पुरातत्त्व मीमांसा', शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद।
7. जैन, वी0के0 .2006. *प्रीहिस्ट्री एण्ड प्रोटोहिस्ट्री ऑफ इण्डियाः एन अप्रेजल.* डी0के0 प्रिन्टवर्ल्डः न्यू दिल्ली।
8. पाण्डेय, जे0एन0 2008. *पुरातत्त्व विमर्श.* प्राच्य विद्या संस्थानः इलाहाबाद।
9. भट्टाचार्य, डी0के0 2007. *भारतीय प्रागैतिहास की रूपरेखा.* पलका प्रकाशनः दिल्ली।
10. गोयल, श्रीराम. 2008. *प्रागैतिहासिक मानव और संस्कृतियाँ.* विश्वविद्यालय प्रकाशनः वाराणसी।
11. शर्मा, जी0आर0 1985. *भारतीय संस्कृतिः पुरातात्विक आधार, नई दिल्ली* : नेशनल पब्लिशिंग हाउस।
12. जायसवाल, विदुला. 1989. *भारतीय इतिहास का मध्य–प्रस्तर युग.* स्वाती प्रकाशनः दिल्ली।
13. दुबे, अनिल कुमार .2005. *मध्यगंगा घाटी में अधिवास प्रक्रिया* (जौनपुर जनपद के विशेष सन्दर्भ में) इलाहाबादः स्वाभा प्रकाशन।
14. मिश्रा, वी0डी0 1997. *सम ऑसपेक्ट्स ऑफ इण्डियन आर्कियोलाजी.* प्रभात प्रकाशनः इलाहाबाद।

10.6 बोध प्रश्न

- नवीन पुरातत्त्व के अर्थ को स्पष्ट कीजिए।
- व्यवहारात्मक पुरातत्त्व पर टिप्पणी लिखिए।
- उत्तर प्रक्रियात्मक पुरातत्त्व की विवेचना कीजिए।
- नवीन पुरातत्त्व की विशेषता लिखिए।

इकाई–11–समुद्री पुरातत्त्व

इकाई की रूपरेखा

11.1 प्रस्तावना

11.2 उद्देश्य

11.3 स्वातंत्रोत्तर युग–नेशनल इंस्टिट्यूट ऑफ ओसियानोग्राफी

11.4 समुद्री पुरातत्त्व

11.5 सारांश

11.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

11.7 बोध प्रश्न

11.1 प्रस्तावना

पुरातत्त्व विषय का अध्ययन जब से किया जाना प्रारम्भ हुआ तब से लेकर आज तक बहुत से बदलाब किये गये। इन बदलावों के साथ पुरातत्त्व विषय में नये आयाम भी जुड़ते गये और क्रमशः इसका महत्व बढ़ता गया। पुरातत्त्व के अध्ययन में जैसे–जैसे वैज्ञानिक तकनीकों का प्रयोग होना शुरू हुआ वैसे–वैसे पुरातत्त्व का दायरा बढ़ता गया और पुराविदो द्वारा समय–समय पर नये–नये पुरातत्त्व प्रकारों/शाखाओं की चर्चा की जाने लगी। इसी में एक प्रकार समुद्री पुरातत्त्व है। इसके अर्न्तगत समुंद्र में जलमग्न पुरावशेषों की खोज एवं अध्ययन का कार्य किया जाता है। जिसका संक्षिप्त विवरण निम्नवत् है–

11.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान सकेंगे–

- स्वातंत्रोत्तर युग में की गई पुरातात्विक गतिविधियों को
- नेशनल इंस्टिट्यूट ऑफ ओसियानोग्राफी केविषय में
- समुद्री पुरातत्त्व के महत्व को
- समुद्री पुरातत्त्व की विशेषता को

11.3 स्वातंत्रोत्तर युग–नेशनल इंस्टिट्यूट ऑफ ओसियानोग्राफी

स्वातंत्रोत्तर युग में पुरावशेषों के अध्ययन के लिए प्रयोगशालाओं का प्रयोग होना शुरू हुआ। इसमें टाटा फण्डामेन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट बाम्बे (1945), फिजिकल रिसर्च लेबोरेटरी, अहमदाबाद (1947, डॉ0 विक्रम जी साराभाई), बीरबल साहनी इंस्टिट्यूट ऑफ पैलियोवॉटनी, लखनऊ (1946, वीरबल साहनी), **नेशनल इंस्टिट्यूट ऑफ ओसियानोग्राफी, गोवा** (1966), नेशनल रिमोट सेन्सिंग सेन्टर, हैदराबाद, नेशनल जियोफिजिकल लैबोरेटरी, हैदराबाद इत्यादि विशेष उल्लेखनीय हैं। इस युग में पुरातत्त्व के अध्ययन में वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग सर्वेक्षण, उत्खनन रिपोर्ट लेखन, तिथि निर्धारण एवं प्रलेखन सभी क्षेत्रों में दिखाई देता है।

अमलानन्द घोष के बाद भरतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग की कमान बी0बी0 लाल के हाथ में आती है। बी0बी0 लाल महोदय 1968 ई0 से लेकर 1972 ई0 तक महानिदेशक के पद पर आसीन रहते है। इनके नेतृत्व में बहुत से ऐतिहासिक, प्रागैतिहासिक और आद्येतिहासिक पुरास्थलों का उत्खनन एवं अन्वेषण हुआ जिससे भारतीय इतिहास के बहुत से पटाक्षेपों को उद्घाटित करने में सहायता मिली। बी0बी0 लाल के बाद एम0एन0 देशपाण्डे (मधुसुदन नरहरि देशपाण्डे ने 1972 से 1978 ई0 तक महानिदेशक का पद सम्भाला, इनके कार्यकाल की महत्वपूर्ण उपलब्धि महाराष्ट्र के रत्नागिरि की शैलकृत गुफाओं की खोज है। इसके बाद 1978 से लेकर 1981 ई0 तक बी0के0 थापर (बालकृष्ण थापर), 1981 से 1983 ई0 तक देबाला मित्रा महानिदेशक बने। देबाला मित्रा महानिदेशक बनने वाली प्रथम महिला थीं। मित्रा के बाद एम0एस0 नागराज राव ने 1983–1986 ई0 तक महानिदेशक का पद सम्भाला। राव ने उपरान्त भारतीय प्रशासनिक सेवा के सांस्कृतिक मंत्रालय के सचिव आर0पी0 त्रिपाठी ने पदेन महानिदेशक के रूप में कार्य किया। इसके बाद जगत पति जोशी 1987–1990 ई0 तक महानिदेशक बने। इनके द्वारा सिन्धु सभ्यता के दो महत्वपूर्ण पुरास्थल घौलावीरा और सुरकोटदा की खोज की गयी। तदोपरान्त मुनीष चन्द्र जोशी 1990–1993 ई0 तक पुरातत्त्व विभाग के महानिदेशक बने। इनके कार्यकाल में ही विवादित बाबरी मस्जिद विध्वंश (1992 ई0) हुआ और पूरे भारत में हिन्दु–मुस्लिम दंगे शुरू हो गये। जिसके कारण इनको हटा दिया गया और भारतीय प्रशासिनक सेवा (I.A.S.) की अधिकारी अचला मौलिक ने 1993–1994 तक भारतीय पुरातत्त्व विभाग को सम्भाला। इस तरह से 1993 से लेकर 2010 तक भारतीय पुरातत्त्व विभाग का दायित्व पुरातत्त्वविद् के बजाय आई0ए0एस0 अधिकारियों द्वारा चलाया गया। अचला मौलिक के बाद क्रमशः एस0क0े महापात्रा (1994–95), वी0पी0 सिंह (1995–97), अजय शंकर (1997–98), एस0वी0माथुर (1998–2001), के0जी0 मेनन (2001–2004), सी0बाबू राजीव (2004–2007), के0एन0 श्रीवास्तव (2009–10), गौतम सेनगुप्ता (2010–2013, पुरातत्त्ववेत्ता), प्रवीण श्रीवास्तव (2013–2014), राकेश तिवारी (2014–2017, पुरातत्त्ववेत्ता) इत्यादि भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग के महानिदेशक बने। वर्तमान समय में श्रीमती उषा शर्मा महानिदेशक का पद सम्भाल रही है। ये 2017 से ही इस पद पर नियुक्त हुई थी, जो आई0ए0एस0 अधिकारी है।

भारती पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग को सुव्यवस्थित ढंग से कार्य करने के लिए 29 क्षेत्रीय इकाईयों (सर्किल, 2015 ASI) में बाटा गया है। प्रत्येक सर्किल (Circles) की देख–रेख के लिए अधीक्षक पुरातत्त्वविद की नियुक्ति की गई।

11.4 समुद्री पुरातत्त्व (Under water Archaeology)

जलमग्न पुरातत्त्व अतीत में नाव के डूबने तथा नष्ट होने, बन्दरगाह के जलमग्न हो जाने एवं किसी शहर के जल में दफन होने के अवशेष सागर तट पर विद्यमान रहते हैं इन अवशेषों का खोज एवं अध्ययन समुद्री पुरातत्त्व के अन्तर्गत किया जाता है। पुरातत्त्व की इस आधुनिक वैज्ञानिक शाखा को मरीन पुरातत्त्व (Marine Archaeology), नॉटिकल पुरातत्त्व (Nautical Archaeology) और जलमग्न पुरातत्त्व के नाम से भी जाना जाता है। पोत के नष्ट होने के अवशेष उस समकालीन समय की वैज्ञानिक तकनीक और व्यापार को भी इंगित करते हैं। राहजा हेनरी अष्टम के 'मेरी रोज' (Marry Rose) की खोज और उपलब्धि उल्लेखनीय है। इनके द्वारा अटलांटिक महासागर में डुबे टाइटेनिक (Titanic) जहाज की खोज तकनीकी विकाश और गहरे समुद्री खोज का लाभदायक परिणाम है। विगत 35 वर्षों में समुद्री पुरातत्त्व में दीर्घकालिक गोताखोरी, प्राकृतिक भूगोल सर्वेक्षण यंत्रों, निर्धारित उद्देश्यपरक खोज, सोनार यंत्र (Sonar Sound Navigation and ranging) के प्रयोग, समुद्री कैमरों से छायाचित्रों के निमार्ण इत्यादि के माध्यम से विशेष प्रगति को प्राप्त किया है।

भारत में सिन्धु सभ्यता से सम्बन्धित बन्दरगाह पुरास्थल लोथल की प्राप्ति सिन्धु सभ्यता से सामुद्रिक व्यापार की ओर संकेत करती है। गुजरात समुद्र तटीय क्षेत्र में द्वारका और बैटद्वारका की खोज भारत में समुद्री पुरातत्त्व की महत्वपूर्ण उपलब्धि है। द्वारका की खोज प्रो0 एस0आर0 राव द्वारा सन् 1979 ई0 में द्वारकाधीश मन्दिर (अहमदाबाद) के पास से की गयी। यहाँ 10 मीटर गहराई तक किये गये उत्खनन के परिणाम स्वरूप सांस्कृतिक जमावों के अवशेष प्राप्त हुए। सागर में छिपी सभ्यता का पता लगाने के लिए विशेष वैज्ञानिक उपकरणों का प्रयोग किया जाता है। साट्ड स्कैन विद्युतीय मापक यंत्र से समुद्रतल की तस्वीरे ली जाती है। बेटद्वारका का अन्तर्जलीय अन्वेषण सन् 1982–84 ई0 तक किया गया जिसके परिणामस्वरूप समुद्र में जल प्लावित अवशेष उद्घाटित हुए।

इसी बीच तमिलनाडु सरकार द्वारा नेशनल इन्स्टीच्यूट ऑफ ओसेनोग्राफी (National Institute of Oceanography) और इण्डियन नेशनल साइन्स अकादमी के सयुक्त तत्त्वावधान में 1962 ई0 में पूर्वी समुद्र तट पर कावेरी पट्टनम के समुद्र प्लोवित नगर का सर्वेक्षण किया गया था।

इसके उत्साहवर्धक परिणामों से उत्साहित होकर भारत सरकार के विज्ञान और तकनीकी विभाग ने नवम्बर 1984 से तीन वर्षों के लिए भारतीय जल क्षेत्रों में सामुद्रिक पुरातात्त्विक गतिविधियों के संचालन हेतु नये प्रस्ताव को मंजूरी दी थी। इस दौरान भी द्वारका की महत्वपूर्ण खोजें सम्पन्न हुईं। समुद्र में डूबे हुए शहर के अवशेषों में दुर्गीकृत एरिया, प्रागैतिहासिक पाषाण लंगर तथा मृदभाण्डों के अवशेष खोज निकाले गये। मृदावशेषों के आधार पर इसकी प्राचीनता 1400 ई0 पू0 निर्धारित की गयी है। इस तरह से महाभारत में उल्लिखित द्वारिका नगर के होने की पुष्टि इस खोज और उत्खनन से होती है।

11.5 सारांश

इस प्रकार पुरातत्विक विधा में जब से सामुद्रिक पुरातात्त्विक अध्ययन शुरू हुआ तब से समुद्र अथवा जल के अंदर विद्यमान पुरातात्त्विक अवशेषों को उद्घाटित किया जाने लगा है। इससे समुद्र में डूबे हुए दुर्गो के खंडहर के साक्ष्य प्राप्त हुए तथा तत्कालीन समय में मानव का सामुद्रिक क्षेत्र से आवाजाही के साक्ष्य भी प्राप्त हुए। सामुद्रिक पुरातत्त्व को आधार बनाकर किए गए अध्ययन से बहुत से बंदरगाह स्थलों की भी खोज हुई है। इन खोजों ने पुरातत्त्व विषय को महत्वपूर्ण आयाम प्रदान किया है एवं विषय की महत्ता को स्थापित और गौरवान्वित किया है।

11.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. अग्रवाल, डी0पी0 .1984. *द आर्कियोलॉजी ऑफ इण्डिया.* सेलेक्ट बुक सर्विस सिन्डीकेटः नई दिल्ली।
2. सर मॉर्टिमर व्हीलर, 'पृथ्वी से पुरातत्त्व' हिन्दी माध्यम निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय।
3. एच0 डी0 सांकलिया, पुरातत्त्व परिचय', डेक्कन कालेज, पूना।
4. के0 राजन, 'आर्कियोलॉजीः प्रिंसिपल एण्ड मेथड्स,' मनू पाथ्पिक्कम, तंजौर।
5. आर0 के0 वर्मा, 'क्षेत्रीय पुरातत्त्व' इलाहाबाद
6. वी0 के0 पाण्डेय, 'पुरातत्त्व मीमांसा', शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद।

7. जैन, वी0के0 .2006. *प्रीहिस्ट्री एण्ड प्रोटोहिस्ट्री ऑफ इण्डियाः एन अप्रेजल.* डी0के0 प्रिन्टवर्ल्डः न्यू दिल्ली।

8. पाण्डेय, जे0एन0 2008. *पुरातत्त्व विमर्श.* प्राच्य विद्या संस्थानः इलाहाबाद।

9. भट्टाचार्य, डी0के0 2007. *भारतीय प्रागैतिहास की रूपरेखा.* पलका प्रकाशनः दिल्ली।

10. गोयल, श्रीराम. 2008. *प्रागैतिहासिक मानव और संस्कृतियाँ.* विश्वविद्यालय प्रकाशनः वाराणसी।

11. शर्मा, जी0आर0 1985. *भारतीय संस्कृतिः पुरातात्विक आधार, नई दिल्ली* : नेशनल पब्लिशिंग हाउस।

12. जायसवाल, विदुला. 1989. *भारतीय इतिहास का मध्य–प्रस्तर युग.* स्वाती प्रकाशनः दिल्ली।

13. दुबे, अनिल कुमार .2005. *मध्यगंगा घाटी में अधिवास प्रक्रिया* (जौनपुर जनपद के विशेष सन्दर्भ में) इलाहाबादः स्वाभा प्रकाशन।

14. मिश्रा, वी0डी0 1997. *सम ऑसपेक्ट्स ऑफ इण्डियन आर्कियोलाजी.* प्रभात प्रकाशनः इलाहाबाद।

बोध प्रश्न

- स्वातंत्रोत्तर युग में की गई पुरातात्विक गतिविधियों को स्पष्ट कीजिए।
- नेशनल इंस्टिट्यूट ऑफ ओसियानोग्राफी पर संक्षेप में टिप्पणी लिखिए।
- समुद्री पुरातत्त्व के महत्व को स्पष्ट कीजिए।
- समुद्री पुरातत्त्व की विशेषता लिखिए।

इकाई–12– त्रि–काल पद्धति

इकाई की रूपरेखा

12.1 प्रस्तावना

12.2 उद्देश्य

12.3 त्रि–काल पद्धति

12.4 पाषाण युग

12.4.1 पुरापाषाण काल

12.4.1.1 निम्न पुरापाषाण कालीन संस्कृति

12.4.1.2 मध्य पुरापाषाण कालीन संस्कृति

12.4.1.3 उच्च पुरापाषाण कालीन संस्कृति

12.4.2 मध्य पाषाण काल

12.4.3 नव पाषाणकाल

12.5 कांस्य काल/ताम्र काल

12.6 लौह काल

12.7 सारांश

12.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

12.9 बोध प्रश्न

12.1 प्रस्तावना

मानवीय विकास के साथ मानव द्वारा उपयोग किए गए सामग्रियों में भी निरंतर परिवर्तन होता गया। इन माध्यमों के प्रयोग की परंपरा अलग–अलग कालखंडों का प्रतिनिधित्व कर रही होती है। जब मानवीय साक्ष्य की खोज और अनुसंधान शुरू हुआ तो इन अवशेषों को भी संग्रहीत करने का कार्य किया गया और साथ ही साथ इन अवशेषों को माध्यमों की समानता के आधार पर वर्गीकृत भी किया गया। इस वर्गीकरण की प्रक्रिया में एक महत्वपूर्ण नाम सी जे थॉमसन का आता है जो, डेन्मार्क के कोपेनहेगन राष्ट्रीय संग्रहालय के संग्रहालयाध्यक्ष थे। इन्होंने मानवीय उद्भव से आज तक मानव के द्वारा प्रयोग की गयी सामग्रियों को तीन भागों में वर्गीकृत किया, जिसे 'त्रिकाल पद्धति' के नाम से जाना जाता है।

12.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान सकेंगे–

- त्रि–काल पद्धतिके विषय में
- पाषाण काल के विभिन्न भागों के बारे में
- कांस्य काल एवं लौह काल के बारे में

12.3 त्रि–काल पद्धति

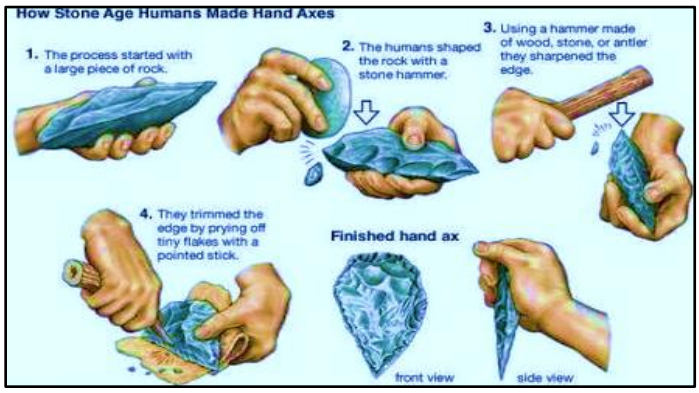

सर्वप्रथम 1776 ई0 में पी0एफ0 सुम ने डेनमार्क के प्रागैतिहासिक सांस्कृतिक विकास को तीन भागों में बाँटा था– पाषाण काल, कांस्य काल और लौह काल। 1836 ई0 में सी0जे0 थामसन ने भी त्रिकाल पद्धति के नाम से मानव के तकनीकी प्रगति की कहानी को डेनमार्क के कोपेनहेगन के राष्ट्रीय संग्रहालय में प्रदर्शित सामग्री के आधार पर दिया था– ये तीन काल (1) पाषाण काल (2) कांस्य काल/ताम्र काल (3) लौहकाल (चित्र संख्याः 1,2,3) है। फ्रान्स के जॉन लुब्बक ने पाषाण काल को दो भागों पुरापाषाण काल और नव पाषाण काल में विभाजित किया। इन कालों की

चित्र 1–पाषाण काल

परिभाषायें मुख्यतः उस समय तक प्राप्त पाषाण उपकरणों के प्रारुपकात्मक प्रौद्योगिक अभिलक्षणों पर आधारित थी। लगभग सात वर्ष बाद यह महसूस किया गया कि नव पाषाण काल के उपकरण पाषाण कालीन संस्कृति के द्योतक थे किन्तु वे तुलनात्मक रुप से मानव के निकट अतीत के सांस्कृतिक इतिहास के प्रतीक भी थे।

चित्र2 : कांस्य काल/ताम्र काल

चित्र 3 : लौहकाल

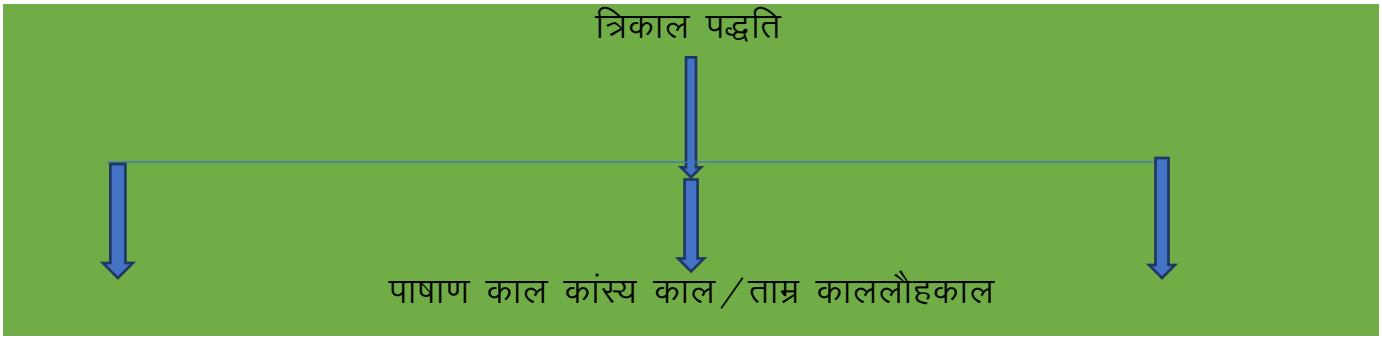

इसलिए लारटेट ने 1870 के दशक में भारतीय पाषाण कालीन इतिहास को तीन हिस्सों में विभाजित किया अर्थात् निम्न, मध्य और उच्च पुरा पाषाण काल। पुरा पाषाण काल के ये तीन चरण उस युग के उद्योगों में पाये गये प्राणि जातियों में हुए परिवर्तनों पर आधारित है (भट्टाचार्य. 1999 पुर्नमुद्रण 2007: 81)।

12.4 पाषाण युग

इस प्रकार तकनीकी बनावट, प्रयुक्त पत्थर और आकार प्रकार के आधार पर मानव संस्कृति की प्रारम्भिक अवस्था पाषाण युग के मोटे तौर पर अब तीन भेद माने जाते है, जो इस प्रकार है–

(1) पुरापाषाण काल (2) मध्य पाषाण काल (3) नव पाषाण काल

12.4.1 पुरापाषाण काल

पुरापाषाण काल मानव तकनीक के विकास का आदि काल या शैशव काल है। इस काल में मानव आखेट और आत्मरक्षा हेतु पत्थर के औजार बनाता था। आग की खोज तो कर लिया था किन्तु कृषि, मृदभाण्ड और भण्डार संग्रह सम्बन्धी उसे ज्ञान नहीं था। भारत में सर्वप्रथम राबर्ट ब्रुस फुट ने 1863 ई0 में मद्रास के समीपस्थ पल्ल्वरम् नामक स्थान से पुरापाषाणिक उपकरण खोजकर प्रागैतिहासिक अध्ययन का श्री गणेश किया। ब्रुस फुट का लगभग 40 वर्षों का संग्रह मद्रास संग्रहालय में संग्रहीत है (मैटिलेट. 1903 : 38)। तब से लेकर आज तक भारत के विभिन्न भागों से पुरापाषाणिक उपकरण खोज निकाले गये हैं। उपकरणों के आकार–प्रकार एवं बनाने की तकनीकी के विकास के आधार पर तथा पुरापाषाण काल का समय अधिक लम्बा होने के कारण, विद्वानों द्वारा इसका विभाजन तीन भागों में किया गया है (पन्त. 1982 : 242) :

(1) निम्न पुरापाषाण काल (2) मध्य पुरा पाषाण काल (3) उच्च पुरापाषाण काल

12.4.1.1 निम्न पुरापाषाण कालीन संस्कृति

भारत में निम्न पुरापाषाण काल का साक्ष्य सोहन नदी घाटी, बेलन घाटी कोर्तल्यार नदी घाटी, उड़ीसा, गुजरात, राजस्थान में डिडवाना, प्रवंरा नदी, कुकड़ी नदी, कर्नाटक के हुडसंगी, मद्रास के पल्लवरम, नर्मदा नदी, मध्य प्रदेश के भीमबैठका, सोन नदी तथा बिहार के मुंगेर जिले में स्थित पैसरा आदि जगहों से प्राप्त होते है। भारत में निम्न पुरापाषाण काल की संस्कृति को उपकरण प्रकार तथा प्रसार क्षेत्र के आधार पर इसे दो प्रमुख वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

(1) चॉपर–चापिंग / पेबल संस्कृति

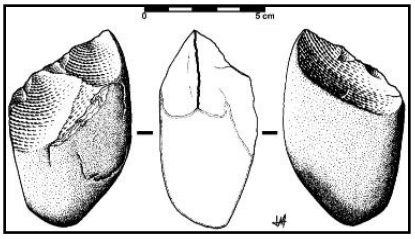

(2) हैण्डएक्स संस्कृति / अश्यूलियन संस्कृति

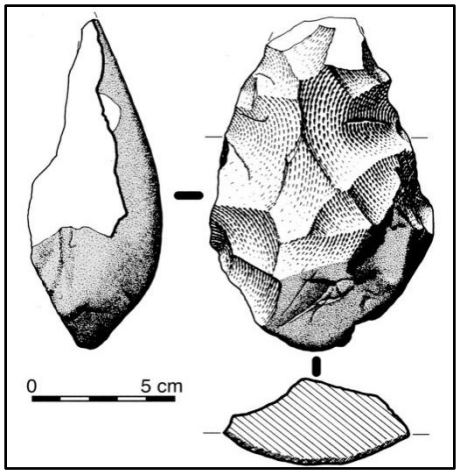

चॉपर–चापिंग संस्कृति पाकिस्तान के पंजाब में प्रवाहित होने वाली सिन्धु की सहायक सोहन नदी की घाटी में किये गये प्रागैतिहासिक अन्वेषण के फलस्वरुप सर्वप्रथम प्रकाश में आयी। अतः इस संस्कृति को सोहन संस्कृति के नाम से जाना जाता है। इस संस्कृति के प्रमुख उपकरण पेबल पर बने होते थे, जिसे चॉपर–चॉपिंग उपकरण के नाम से जाने जाते हैं। निम्नपुरापाषाण काल अश्युलियन संस्कृति के नाम से भी प्रसिद्ध है। हैण्डएक्स, क्लीवर, स्क्रेपर, क्रोड तथा फलक इस संस्कृति के प्रमुख उपकरण है। इस संस्कृति के उपकरण चेन्नई (मद्रास) के पास से सर्वप्रथम प्राप्त हुए थे, इसलिए इसे कभी–कभी मद्रासियन संस्कृति भी कहा जाता है, यद्यपि इस नाम का चलन अब समाप्त प्राय है।

इस संस्कृति के अधिकांश उपकरण कोर पर बने है इसलिए इस संस्कृति को 'कोर कल्चर' के नाम से भी जाना जाता है। इस काल में उपकरण निर्माण की तकनीकी में ब्लाक ऑन ब्लाक तकनीकी, एनवील तकनीकी, एवेविलियन तकनीकी, एश्युलियन तकनीकी आदि का प्रयोग किया जाता था।

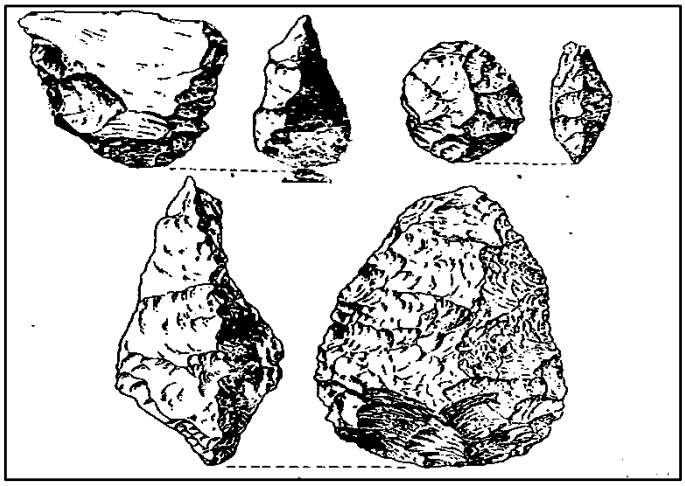

चित्रः हैण्डएक्स व क्लीवर

भारत में निम्न पुरापाषाण काल की तिथि का निर्धारण स्पष्ट रुप से नहीं किया गया है यह विभिन्न क्षेत्रों में अलग–अलग प्रकार से मिलती है। इस काल की तिथि लगभग 2 लाख से 80 हजार बी0पी0 मानी जाती है। कहीं–कहीं पर यह 150000 बी0पी0 के लगभग मानी जाती है। पुराध्रुवीय चुम्बकत्व स्तरीकरण और विखण्डन पथ तिथि प्रणाली के आधार पर उच्च शिवालिक के अवसादन की तिथियाँ निर्धारित की गई है। हैण्डएक्स सहित अन्य उपकरणों के कई प्राप्ति स्थलों का कालानुक्रम 700000 से 400000 वर्ष पुर्व के मध्य निर्धारित किया गया है। पूर्व पाषाण काल की तिथि श्री राम गोयल द्वारा पॉच–छः लाख वर्ष पूर्व से लगभग 12000 वर्ष पूर्व तक बताई गयी है।

12.4.1.2 मध्य पुरापाषाण कालीन संस्कृति

मध्य पुरापाषाण काल, पाषाण काल के प्रथम चरण का द्वितीय भाग है, इस चरण का भारत में सर्वप्रथम साक्ष्य नेवासा नामक स्थल से प्राप्त उपकरणों तथा स्तर विन्यास के आधार पर हुआ। 20वीं शताब्दी के पाँचवें दशक तक भारत में मध्य पुरापाषाण काल के बारे में जानकारी संदिग्ध थी लेकिन गोदावरी नदी की सहायक प्रवरा नामक सरिता के बॉये तट पर स्थित नेवासा पुरास्थल की सन् 1954 ई0 में दकन पोस्ट ग्रेजुएट एण्ड रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पुणे के पुराविदों द्वारा खोज से फलक पर बने उपकरणों की प्राप्ति हुई जो निम्न पुरापाषाण काल के उपकरणों से भिन्नता लिए हुए था। नेवासा में संकालिया को प्रवरा के स्तर निक्षेपों से क्रमशः तीन प्रस्तर उद्योग मिले। इन उद्योगों को उन्होंने तीन श्रेणियों क्रमशः प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय में विभाजित किया। प्रथम श्रेणी में हैडेक्स क्लीवर परिवार के उपरकण थे।

तिथि –मध्य पुरापाषाण काल का तिथि निर्धारण करना एक जटिल समस्या है। अब तक जो कार्य हुए हैं उनके आधार पर मध्य पुरापाषाण काल की तिथि 165000 वर्ष पूर्व से 40000 वर्ष निर्धारित कि गयी है।

12.4.1.3 उच्च पुरापाषाण कालीन संस्कृति

पुरापाषाण काल का अन्तिम चरण, उच्च पुरापाषाण काल है। स्तर विन्यास के आधार पर उच्च पुरापाषाण काल, मध्य पुरा पाषाणकाल के बाद तथा मध्य पाषाण काल के पहले आता है। यह काल पूर्ववर्ती काल से बहुत ही भिन्नता लिए हुए था, खासकर मानव विकास की दृष्टि में। इस काल में मेधावी मानव के विकास के साथ ही, मानव के सांस्कृतिक विकास के नवीन स्वरुप उभर कर सामने आते हैं। इसका कारण मानव के कर्परीय धारिता में विकास तथा उसकी शारीरिक संरचना, विशेष रुप से उसके चेहरे में परिवर्तन दिखाई देता है। इन परिवर्तनों की वजह से वह परस्पर संवाद, हाथ पर नियंत्रण की क्षमता से मनचाहा उपकरण निर्माण तथा चित्रकारी करने लगा। कलात्मक वस्तुओं का निर्माण भी इस काल की संस्कृति की एक विशेषता बन गयी।

भारत में उच्च पुरापाषाण काल के अस्तित्व की पहचान आज से लगभग तीन दशक पूर्व ही स्पष्ट हो पायी है जब गोवर्धन राय शर्मा ने बेलन घाटी का सर्वेक्षण किया तो बेलन घाटी के तृतीय ग्रेवेल जमाव से इस संस्कृति की पहचान की गयी। इस काल के उपकरण प्रायः ब्लेड पर बने है तथा ब्यूरिन इस काल का नया उपकरण प्रकार है, इसलिए एक और शब्दावली ''ब्लेड–ब्यूरीन कल्चर'' प्रयुक्त होती है। इसकाल के प्रमुख उपकरणों में ब्लेड, ब्यूरिन, चाकू, अंत स्क्रैपर, घाट युक्त ब्लेड आदि है। ब्लेड ऐसे फलकों को कहते हैं जिनकी लम्बाई चौड़ाई से अधिक होती है तथा भुजाएँ लगभग समानान्तर होती है। इस काल में हड्डी के बहुत से उपकरण मिलने लगते हैं जिसमें सुई, छिद्रित सुई, प्वांइट, मछली मारने का काँटा, हार्पून तथा ऐरो स्ट्रेटनर्स (Arrow Straightenere) प्रमुख हैं। उच्च पुरापाषाण काल की तिथि मौटेतौर लगभग 40,000 ईसा पूर्व से 10,000 ईसा पूर्व के बीच निर्धारित की जा सकती है।

13.4.2 मध्य पाषाण काल

मध्य पाषाण काल, मानव के सांस्कृतिक विकास का वह चरण है जब मानव खाद्य संचरण की अवस्था से खाद्य संग्रहण की अवस्था में प्रवेश करता है। पुरा पाषाण काल में मानव जानवरों के शिकार द्वारा भोजन प्राप्त करता था लेकिन इस काल में मानव खाद्य–सामग्री की आपूर्ति शिकार करके तथा जंगली अनाज के दानों को संग्रहीत करके करने लगा था। इसलिए इसे शिकार एवं खाद्य संग्रहण की अवस्था (Hunter and gatherer stage) भी कहा जाता है।

यह काल पाषाण काल का मध्यवर्ती चरण है क्योंकि पाषाण काल का जो प्रारम्भिक विभाजन जॉन लुब्बक द्वारा किया गया था वह पुरापाषाण काल और नव पाषाण काल था लेकिन जब 1867 ई0 में एस0सी0 कार्लाइल द्वारा सर्वप्रथम विन्ध्य क्षेत्र से लघुपाषाण उपकरणों को प्रतिवेदित किया गया, तब से भारत के पाषाण काल के इतिहास में एक नया अध्याय जुड़ गया। इन्होंने अपनी खोजों को स्वयं तो प्रकाशित नहीं किया परन्तु बाद के पुराविदों, जैसे ब्राउन, स्मिथ व आलचिन के लेखों से ज्ञात होता है कि मध्य भारत से यह पुरावशेष प्राप्त किये गये थे। बाँदा, रीवा एवं मिर्जापुर जिलों की पहाड़ियों पर स्थित प्राकृतिक शैलगृहो में से कुछ का उत्खनन भी इन्होंने किया। इसी दौरान विश्व स्तर पर सन् 1887 में फ्राँस के ''ल मास द अजिल'' (La Mas,d Azil) नामक पुरास्थल की खोज एवं उत्खनन के परिणाम स्वरूप पुरापाषाण काल एवं नव पाषाण काल के मध्य अन्तराल की परिकल्पना का परित्याग कर दिया गया। उच्च पुरापाषाण काल एवं नव पाषाण काल के मध्य एक संक्रमणात्मक सांस्कृतिक काल का अस्तित्व स्वीकार किया जाने लगा। इस मध्यवर्ती काल को ''मध्य पाषाण काल'' का नाम दिया गया। इस काल के उपकरण लघु–फलक पर बने होते है जिनकी सामान्य फलकों के समान ही दोनों भुजाएं समानान्तर होती है और लम्बाई, चौड़ाई की तुलना में कम से कम दुगुनी या उससे अधिक होती है।

12.4.3 नव पाषाणकाल

'पाषाण काल' के लम्बे काल खण्ड का जो इतिहास है उसका अन्तिम भाग नव पाषाणकाल है। यह काल अपने पूर्ववर्ती कालों से पूर्णतः भिन्नता लिए हुए था। पहले से चली आ रही विकास की जो तारतम्यता थी वह इस काल में सर्वोच्चता को प्राप्त करती हैं। इस काल की जलवायु भी मानवीय विकास के लिए उपयुक्त हो गयी थी क्योंकि पुरापाषाण काल की जलवायु प्रातिनूतन कालीन थी अर्थात जलवायु का लम्बा चक्र विद्यमान था लेकिन इसके उलट इस काल की जलवायु नूतन कालीन थी अर्थात आज की तरह का जलवायु चक्र विद्यमान था। जलवायु की यह प्रकृति इस काल के पूर्ववर्ती काल मध्य पाषाण काल से ही प्रारम्भ हो गयी थी। इस काल से पहले मानव अपने जीवन निर्वाह के लिए प्रकृति की कृपा पर पूर्णतः निर्भर था, लेकिन इस काल में मानव ने अपने जीवन यापन के लिए प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग अपनी आवश्यकता अनुसार करना प्रारम्भ कर दिया था अर्थात प्राकृतिक तत्वों को अपने नियंत्रण में करने का सफल प्रयास किया था। मानव जीवन के विकास का प्रारम्भिक उद्यम ''कृषि और पशुपालन'' इस काल के मानव के साथ जुड़ा हुआ है। यह इस काल की अर्थव्यवस्था का प्रमुख आधार था। ये दोनों आविष्कार इस काल के मानव को अपने पूर्ववर्ती कालों से अलग कर देते हैं। मध्य पाषाण काल में मानव आखेट और अन्न संग्राहक अवस्था में था, अर्थात शिकार और जंगली अनाज के दानों तथा कन्दमूल और फल–फूल से अपने जीवन का निर्वाह करता था लेकिन नवपाषाण कालीन मानव पशुपालन और कृषि से अपने जीवन का निर्वाह करता था। जब मानव कृषि–कार्य करने लगा और पशुओं को पालने लगा तो उसे एक निश्चित स्थान पर रहने की आवश्यकता हुई क्योंकि जब फसल की बुआई होती थी तो उसे तैयार होने में समय लगता था। इस दौरान जंगली जानवरों से फसल की देखभाल के लिए एक निश्चित स्थान पर रहना मजबूरी थी। इस प्रक्रिया ने मानव के जीवन में स्थायित्व ला दिया क्योंकि जब मानव भोजन की तलाश में रहता था तो वह खानाबदोश जीवन व्यतीत करता था, एक स्थान पर ज्यादा समय तक नहीं रह पाता था लेकिन कृषि ने मानव को एक स्थान पर लम्बे समय तक रहने के लिए बाध्य किया।

12.5 कांस्य काल/ताम्र काल

यह काल अपने पूर्ववर्ती नवपाषाण काल से भिन्नता लिए हुए था क्योंकि इस काल में पाषाण के साथ–साथ धातु की बनी वस्तुओं का भी प्रयोग किया जाने लगा था। हाँलाकि ऐसा नहीं है कि इस काल का मानव पूर्ण रूप से प्रागैतिहासिक व्यवस्था को त्याग चुका था बल्कि उसी व्यवस्था का परिष्कृत रूप इस काल में देखने को मिलता है, जैसे बर्तनों को अच्छी तरह से चाक पर बनाना, कुछ नयी पात्र परम्पराओं एवं प्रकारो का उदय, आवास में बदलाव, कृषि करने के तौर–तरीकों में बदलाव तथा सबसे बड़ा बदलाव उपकरण एवं अस्त्र–शस्त्रों के माध्यम में दिखाई देता है, यथा–पाषाण के साथ ताम्र धातु का प्रयोग। इसी कारण इस काल को ''ताम्र–पाषाण काल'' कहा जाता है। अतः कहा जा सकता है कि ताम्र (ताँबा) धातु के प्रयोग ने एक नये युग का सृजन किया।

ताम्र–पाषाण काल को भारतीय प्रागैतिहास तथा इतिहास के बीच एक कड़ी की भूमिका में देखा जा सकता है। धातु के प्रयोग का प्रारम्भ भी इसी काल से होता है। धातु के प्रयोग का जो कालानुक्रम है वह क्षेत्र के अनुसार अलग–अलग है। यदि पश्चिमोत्तर भारत में सिन्धु सभ्यता वाले क्षेत्र में देखें तो इस क्षेत्र के निवासियों ने कॉसें का प्रयोग 3000 ई0 पूर्व में ही करना प्रारम्भ कर दिया था। उदाहरण के लिए 'मुण्डिगॉक के तृतीय स्तर, राना धुनडाई, सूरजंगल, सरायखोला आदि। राजस्थान, मध्य प्रदेश तथा महाराष्ट्र के क्षेत्र में कायथा, मालवा, अहाड़ और जोर्वे की ताम्रपाषाणिक संस्कृतियाँ विकसित हुई थीं। इन संस्कृतियों के मानव द्वारा 2200 ई0 पू0 से ही ताँबे का प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया गया था। ताम्र पाषाणिक संस्कृति को विद्धानों द्वारा 'ग्रामीण संस्कृति बताया गया है जिसमें पाषाण और ताँबे से बने उपकरणों का प्रयोग किया जाता था।

12.6 लौह काल

लोहे के औजार बनाने की तकनीकी के बाद व्यापक पैमाने पर लौह उपकरणों का निर्माण तथा प्रयोग सम्भव हुआ, जिससे कृषि का तेजी से विकास हुआ और अर्थव्यवस्था में वृद्वि हुई। परिणाम स्वरुप व्यापार और वाणिज्य तथा उघोग–धन्धो का भी विकास हुआ। इस प्रकार एक अत्यन्त जटिल आर्थिक–जीवन की प्रक्रिया का उद्‌भव हुआ। प्रारम्भ में हस्तिनापुर तथा रोपड़ के उत्खननों से चित्रित धूसर संस्कृति के धरातल से लोहे के उपकरणों के न मिलने के कारण इसे कास्यं युगीन पात्र परम्परा कहा गया था लेकिन बाद में आलमगीरपुर, कौशाम्बी, अहिच्छत्र, अतरंजीखेड़ा, नोह इत्यादि सभी उत्खनित पुरास्थलो से लोहे के उपकरण प्राप्त हुए है, इस प्रकार अब इसको लौह युगीन संस्कृति स्वीकार किया जाता है। प्रमुख लौह उपकरणो में बाण फलक, कुल्हाड़ियाँ, सुईयाँ और कीले आदि विशेष उल्लेखनीय है। हस्तिनापुर, अतरंजीखेड़ा आदि पुरास्थलों से लौह धातुमल भी मिले है।

उत्तर भारत के अधिकांश क्षेत्रों में यद्यपि लोहे का प्रचलन चित्रित धूसर पात्र परम्परा (PGW) के काल में लगभग 1000 ई0 पू0 में हो गया था लेकिन उत्तरी काली चमकीली पात्र परम्परा के काल में लोहे के व्यापक स्त्तर पर प्रयोग के संकेत मिलते हैं। लौह अयस्क को पिघलाने और प्राप्त लोहे को पीटकर उपकरण बनाने की तकनीक में प्रगति परिलक्षित होती है। लोहे के उपकरणों के बड़े पैमाने में उपयोग से तत्कालीन लोगों के आर्थिक जीवन में उल्लेखनीय परिवर्तन हुआ। प्रमुख लौह उपकरणों में बाण, फलक, भाले, शीर्ष, बरछी, कटार, चाकू, हंसियाँ, खुर्पी, कीले, बंसुला, छेनी, कुल्ड़ाही तथा दीपक आदि है।

दक्षिण भारत की बृहदपाषाणिक समाधि और आवास क्षेत्रों से लोहे के बने हुए अस्त्र–शस्त्र प्राप्त होते है। इसमें लगभग 33 प्रकार के उपकरण प्राप्त हुए है। प्रमुख उपकरणो मे चिपटी कुल्हाड़ियाँ, फावड़े, हंसिया, छेनी, बंसुले, चाकू, मछली पकड़ने की कटिया, वाणाग्र, तिपाई, घोड़े की लगाम, नाल, त्रिशूल, तलवारे, एवं कटारें आदि है।

12.7 सारांश

इस प्रकार उपयुक्त वर्गीकरण के आधार पर कहा जा सकता है कि मानव ने प्रारंभ में प्रकृति में विद्यमान सामग्रियों का उसी रूप में प्रयोग करना शुरू किया जिस रूप में वह विद्यमान थी हालांकि मानव ने अपनी बुद्धि और हाथ के प्रयोग से उन सामग्रियों को अपने अनुसार गढ़ा और प्रयोग किया है। इस कालखंड को पाषाण काल का नाम दिया गया। इसी क्रम में पाषाण के साथ–साथ मानव द्वारा तांबे की वस्तुओं का प्रयोग किया जाना शुरू हुआ, अतः मानवीय विकास के द्वितीय चरण को 'ताम्र काल' या 'कांस्य काल' के रूप में अभिगृहित किया गया। तीसरा कालखंड पाषाण और तांबे की वस्तुओं के साथ –साथ एक मजबूत धातु का आविष्कार मानव के द्वारा किया गया, जो मानव जीवन से जुड़ने के साथ आज तक चली आ रही है इस कालखंड को 'लौह काल' का नाम दिया गया। अतः मानव का जीवन पाषाण से शुरू होकर ताम्र/कांस्य से होते हुए लौह काल तक पहुंचा और वर्तमान कालखंड का समय अब तक तीनों कालखंडों में प्रयोग किए गए सामग्रियों के साथ साथ मशीनीकरण या यांत्रिक पद्धति के काल के रूप में जाना जा सकता है।

12.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. अग्रवाल, डी0पी0 .1984. *द आर्कियोलॉजी ऑफ इण्डिया.* सेलेक्ट बुक सर्विस सिन्डीकेटः नई दिल्ली।
2. जैन, वी0के0 .2006. *प्रीहिस्ट्री एण्ड प्रोटोहिस्ट्री ऑफ इण्डियाः एन अप्रेजल.* डी0के0 प्रिन्टवर्ल्डः न्यू दिल्ली।
3. पाण्डेय, जे0एन0 2008. *पुरातत्त्व विमर्श.* प्राच्य विद्या संस्थानः इलाहाबाद।
4. भट्टाचार्य, डी0के0 2007. *भारतीय प्रागैतिहास की रूपरेखा.* पलका प्रकाशनः दिल्ली।
5. गोयल, श्रीराम. 2008. *प्रागैतिहासिक मानव और संस्कृतियाँ.* विश्वविद्यालय प्रकाशनः वाराणसी।
6. शर्मा, जी0आर0 1985. *भारतीय संस्कृतिः पुरातात्विक आधार, नई दिल्ली* : नेशनल पब्लिशिंग हाउस।

7. कुशवाहा, संजय कुमार, 2016. *प्रागैतिहासिक संस्कृति के विविध पक्ष,* वाराणसीः कला प्रकाशन.

8. जायसवाल, विदुला. 1989. *भारतीय इतिहास का मध्य–प्रस्तर युग.* स्वाती प्रकाशनः दिल्ली।

9. दुबे, अनिल कुमार .2005. *मध्यगंगा घाटी में अधिवास प्रक्रिया* (जौनपुर जनपद के विशेष सन्दर्भ में) इलाहाबादः स्वाभा प्रकाशन।

10. मिश्रा, वी0डी0 1997. *सम ऑसपेक्ट्स ऑफ इण्डियन आर्कियोलाजी.* प्रभात प्रकाशनः इलाहाबाद।

11. सर मॉर्टिमर व्हीलर, 'पृथ्वी से पुरातत्त्व' हिन्दी माध्यम निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय।
12. एच0 डी0 सांकलिया, पुरातत्त्व परिचय', डेक्कन कालेज, पूना।
13. के0 राजन, 'आर्कियोलॉजीः प्रिंसिपल एण्ड मेथड्स,' मनू पाथ्पिक्कम, तंजौर।
14. आर0 के0 वर्मा, 'क्षेत्रीय पुरातत्त्व' इलाहाबाद
15. वी0 के0 पाण्डेय, 'पुरातत्त्व मीमांसा', शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद।

12.9 बोध प्रश्न

- त्रि–काल पद्धतिपर टिप्पणी लिखिए।
- पाषाण काल के विभिन्न भागों पर प्रकाश डालिए।
- कांस्य काल एवं लौह काल को स्पष्ट कीजिए।

इकाई–13 पुरावशेषों का संरक्षण

इकाई की रूपरेखा

13.1 प्रस्तावना

13.2 उद्देश्य

13.3 प्राचीन स्मारकों का परिरक्षण

13.4 स्मारकों पर उगी वनस्पतियों से संरक्षण

13.5 पुरावस्तुओं का रासायनिक संरक्षण

13.6 बालुकाश्म तथा चूने की वस्तुओं का संरक्षण

13.7 धातु की वस्तुओं का उपचार

13.7.1 सोना

13.7.2 चॉदी

13.7.3 तांबा

13.7.4 लोहा

13.8 वानस्पतिक तथा जैविक पदार्थ

13.9 सारांश

13.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

13.11 बोध प्रश्न

13.1 प्रस्तावना

पुरास्थलों के उत्खनन में अनेक माध्यमों के छोटे–बड़े पुरावशेष मिलते हैं जिनके दीर्घ जीवन हेतु उनका परिरक्षण अपरिहार्य होता है क्योंकि यही देश की सांस्कृतिक थाती होते हैं। प्रत्येक पुरावशेष हेतु एक समान रासायनिक उपचार आत्मघाती हो सकता है अतः कुशल रसायनज्ञ उन्हें पृथक–पृथक वर्गों में विभाजित कर अधोलिखित प्रकार से उनका परिरक्षण करता है –

13.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान सकेंगे–

- प्राचीन स्मारकों के परिरक्षण को
- पुरावस्तुओं के रासायनिक संरक्षण के विषय में
- बालुकाश्म तथा चूने की वस्तुओं के संरक्षण को
- धातु की वस्तुओं के संरक्षण को

13.3 प्राचीन स्मारकों का परिरक्षण

पुरातत्त्व में संरक्षण के कुछ मूलभूत सिद्धान्त हैं। संरक्षण नियंत्रित होना चाहिए, जहाँ आवश्यक हो वहीं किया जाना चाहिए और यथासंभव मूल भवन की ही वस्तुओं (ईंटों अथवा पत्थरों) के उपयोग से होना चाहिए, बाहरी वस्तुओं का कम से कम प्रयोग होना चाहिए। संरक्षण हेतु किये गये परिवर्तन मूल स्मारक के आकार–प्रकार, रंग आदि से मेल खाते हुए होने चाहिए और जिस बाहरी वस्तु का संरक्षण के लिए प्रयोग किया गया हो वह जहाँ तक हो सके मूल स्मारक से अलग दिखायी न दें।

प्राचीन स्मारक देश की सांस्कृतिक विरासत होते हैं। वे सांस्कृतिक परम्पराओं के प्रतीक तथा प्राचीन काल के लोगों की कलाभिरुचि के परिचायक होते हैं। भारत में प्राचीन काल के स्मारक, शैलकृत गुहा, मन्दिर, स्तूप, विहार, आदि के रूप में मिलते हैं ।

मध्यकाल से किले और प्रासाद भी मिलने लगते हैं। प्राचीन स्मारकों में अजन्ता और एलोरा की गुफाएँ तथा एलोरा का कैलाश मन्दिर, खजुराहो तथा भुवनेश्वर के मन्दिर, साँची तथा सारनाथ के स्तूप, नालन्दा का महाविहार, महाबलीपुरम् तथा तंजौर के मन्दिर आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। पुराविदों का कर्त्तव्य है कि वह राष्ट्र की इस पुरासंपदा के परिरक्षण हेतु समुचित प्रयास करें। अधिकांश प्राचीन स्मारक अच्छी दशा में नहीं होते हैं। समय के थपेड़े उन्हें जर्जर कर देते हैं। कई स्मारकों के इर्द–गिर्द घने जंगल उग जाते हैं। कभी तो पूरे स्मारक ही उनसे ढँक जाते हैं। दक्षिण–पूर्वी एशिया के कई स्मारक (यथा बोरोबुदूर स्तूप) जंगल से ढँक गये थे। स्मारकों के ऊपर जो वनस्पति उग आती हैं उनकी जड़ें ईंटों और पत्थरों की चिनाई को ढीला कर देती हैं। स्मारकों की दीवारों में पानी रिसने लगता है, जिससे चिनाई कमजोर पड़ जाती है और दीवारें फूलने लगती हैं। स्मारकों पर काई जम जाती हैं। तेज हवा के झोंकों से भी स्मारकों को हानि पहुँचती है। अजन्ता की गुफाएँ वहाँ जानवरों और पक्षियों के निवास करने के कारण काफी गन्दी हो गयी थीं। साधु–सन्तों के द्वारा आग जलाने के कारण गुफाओं पर धुएँ का दुष्प्रभाव पड़ा और गुहा – चित्रों को विशेष रूप से हानि पहुँची। समुद्रतटीय स्मारकों पर लवणयुक्त समुद्री हवा का दुष्प्रभाव पड़ता है और स्मारकों में लवण गहराई तक प्रवेश कर जाता है। समुद्रतटवर्ती महाबलीपुरम् के मन्दिर और रथ तथा कोणार्क के सूर्य मन्दिर पर इस तरह के दुष्प्रभाव स्पष्ट दिखते हैं। स्मारकों को क्षतिग्रस्त करने में बहुत बड़ा हाथ भूमि में विद्यमान हानिकारक लवणों का है। वनस्पति के अभाव में लवण नमी के साथ ईंट निर्मित स्मारकों में प्रवेश कर इन्हें जर्जर कर देता है। कदाचित् निर्माण सम्बन्धी त्रुटि के कारण स्मारक क्षतिग्रस्त हो जाते हैं। ईंटों को जोड़ने के लिए प्रयुक्त गारा निम्न कोटि का होने के कारण चिनाई ढीली पड़ जाती है और स्मारकों की दीवारें

कमजोर हो जाती हैं। भूकम्प से भी स्मारकों को हानि पहुँचती है। काँगड़ा में नगरकोट तथा असम के शिवसागर जिले के कई स्मारक अलग–अलग समय में आये भूकम्पों से धराशायी हो गये ।

धार्मिक द्वेष से प्रेरित होकर कुछ आक्रमणकारियों ने भी स्मारकों को हानि पहुँचाई। मनुष्य द्वारा भौतिक लाभ के लिए किये कार्यों से भी स्मारकों को क्षति पहुँची। सड़क पर रोड़े डालने या भवन–निर्माण के लिए पत्थर अथवा ईंटों को इस्तेमाल करने के लिए भी स्मारकों को तोड़ा गया। सारनाथ के एक स्तूप की ईंटों से बनारस के जगतसिंह मुहल्ले के अनेक भवन बनाये गये। अमरावती के स्तूप के बाहर लगी चूने पत्थर के कला अभिप्रायों से अंकित शिलाएँ चूना बनाने के लिए तोड़ी गयीं। हड़प्पा टीले की ईंटे खोद–खोद कर उन्हें तोड़कर पुरातत्त्व मीमांशा ठेकेदार ब्रेटन भाइयों ने लाहौर और मुल्तान के बीच रेलवे लाइन में रोड़े बिछाये। कई प्राचीन महल तथा दुर्गा को मुख्यतः युद्धों के दौरान सेना के आवास के लिए उपयोग में लाया गया और इस सिलसिले में कलाप्रेमियों को गहरा धक्का लगता है कि 1828 ई0 में विलियम बैंटिंक के वायसराय काल में स्मारक में परिवर्तन–परिवर्द्धन किये गये, कुछ भागों में तोड़–फोड़ भी की गयी। यह जानकार आश्चर्य होता है कि भारत सरकार ताजमहल को गिराकर उसके संगमरमर की नीलामी से धन कमाने के प्रस्ताव पर गंभीरता से विचार कर रही थी। यह सौभाग्य ही था कि इस पर अंतिम निर्णय होते–होते रुक गया। कृषि हेतु भूमि पर पुरावशेषयुक्त टीले समतल कर दिये गये और स्मारक तोड़ दिये गये। स्मारकों के संरक्षण के लिए 1861 ई0 में कनिंघम की प्राचीन स्मारकों के सर्वेक्षण हेतु नियुक्ति हुई। उनके किये गये कार्यों तथा स्मारकों के बारे में प्रकाशित सामग्री से लोगों की स्मारकों के बारे में जानकारी बढ़ी और उन्होंने उनके महत्त्व को समझा। कई महत्त्वपूर्ण स्मारकों का संरक्षण किया गया।

1904 में जब कर्जन वायसराय और मार्शल पुरातत्त्व विभाग के महानिदेशक थे, एशियंट मोनूमेण्ट्स प्रिजरवेशन एक्ट पास हुआ जिससे स्मारकों के संरक्षण में बहुत सहायता और सहूलियत

मिली। स्मारकों के संरक्षण हेतु भारत को विभिन्न कालों में क्रमशः 5, 7 तथा 9 क्षेत्रों में बाँटा गया। इसके बाद भी भारत सरकार ने पुरावशेषों के संरक्षण के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण नियम बनाये। पर्यटन के विकास के फलस्वरूप भी स्मारकों के संरक्षण के क्षेत्र में हुई। यह बात शहरी क्षेत्र में स्थित स्मारकों के लिए ही नही बल्कि देहाती क्षेत्र में स्थित स्मारकों के बारे में भी लागू होती है। फरदापुर गाँव के पास स्थित अजन्ता और आगरा नगर में स्थित ताजमहल दोनों ही पर्यटकों के आकर्षण के केन्द्र रहे हैं।

हमारे देश के विभिन्न क्षेत्रों की जलवायु, वर्षा की मात्रा, तापमान, प्रदूषण की मात्रा तथा भूमि में लवण की मात्रा में और स्मारकों के निर्माण के लिए प्रयुक्त सामग्री में पर्याप्त भिन्नता है। अतः सभी भग्न अथवा जीर्ण–शीर्ण स्मारकों के लिए एक जैसा उपचार प्रस्तावित नहीं किया जा सकता और विभिन्न स्मारकों के लिए परिस्थितियों के अनुरूप अलग–अलग प्रकार के उपचार प्रस्तावित करने होंगे। पाषाण निर्मित स्मारकों का उपचार करने से पहले पत्थरों का दुर्बीन की सहायता से परीक्षण आवश्यक है ताकि यह मालूम हो सके कि वे किस प्रकार की शिला के बने हैं और उनमें किस–किस तरह का मिश्रण है, ताकि तद्नुरूप उपयुक्त उपचार किया जा सके।

इस बात का निरन्तर ध्यान रखना चाहिए कि सामान्यतः पुराविद् का कर्त्तव्य स्मारकों का संरक्षण करना न कि उनका पुनर्निर्माण, तथापि जहाँ स्मारक इतना क्षतिग्रस्त हो गया हो कि उसका कुछ हिस्सा टूट कर अलग हो गया हो और शेष के टूटने की संभावना हो तो वहाँ ऐसी स्थिति में कुछ अंश तक पुनर्निर्माण भी समीचीन है। कुछ परिस्थितियों में स्मारकों की सुरक्षा के लिए उसके ऊपर आच्छादन भी निर्मित किया जा सकता है, लेकिन उसे पुराने निर्माण–कार्य के साथ मेल खाना चाहिए। यथासंभव स्मारक के ही गिरे हुए ईंट–पत्थरों का प्रयोग मरम्मत के लिए करना चाहिए ।

13.4 स्मारकों पर उगी वनस्पतियों से संरक्षण

स्मारकों पर उगी वनस्पतियों में पीपल और बरगद विशेष रूप से हानिकारक होते हैं, क्योंकि उनकी जड़ें दीवारों में बहुत दूर तक फैल जाती हैं। ये दरारों में जगह बनाकर बढ़ती हैं और ईंटों की चिनाई को ढीला कर देती है। इससे आगे चलकर स्मारक की दीवारों में पानी भर जाता है और यदि लम्बे समय तक ऐसे स्मारक का संरक्षण न किया जाय तो वह गिर भी सकता है। दीवारों के भीतर फैली जड़ों को खींच कर निकालना ठीक नहीं, इससे दीवारों की चिनाई पर दुष्प्रभाव पड़ेगा क्योंकि ईंटें अपनी जगह से हिल जाएंगी। जडों में अम्ल डालकर उन्हें नष्ट करना चाहिए। अक्सर प्राचीन स्मारकों पर काई जम जाती है जो उनके लिए हानिकारक होती है, उसे हटाना चाहिए। अगर किसी पुरास्थल पर भग्न स्मारक का मलबा पड़ा हो तो उसे पूरी तरह से हटा देना चाहिए। जहाँ पूरी दीवार ही गिर गयी हो,

वहाँ पड़ा मलवा हटाने से उसकी नींव की स्थिति एवं स्वरूप का पता चलेगा और तदनुसार भवन की रूपरेखा का अनुमान लगाया जा सकता है।

स्मारक की छत को जलावरोधी बनाना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि यदि छत से स्मारक के भीतर पानी रिसेगा तो उसे बहुत हानि पहुँचेगी। दरारों की भली–भाँति सफाई कर उनमें अच्छे प्रकार के सीमेन्ट का घोल डालना चाहिए। यदि दीवार को बिना गिराये सहारा देकर या मरम्मत कर काम चलाया जा सकता हो तो उसे गिरा कर पुर्ननिर्मित नहीं करना चाहिए। मरम्मत किये गये भाग का रंग और आकार–प्रकार मूल से मेल खाये इसके लिये मरम्मत के लिये प्रयोग की जाने वाली बालू मूल चिनाई में लगी बालू के रंग की होनी चाहिए। चूना उत्तम प्रकार का होना चाहिए। चूने और बालू या मोरंग को उचित अनुपात में मिलाकर मसाला तैयार करना चाहिए। प्राचीन काल में सीमेन्ट का प्रयोग नहीं होता

था । अतः यथासंभव उसके प्रयोग से बचना चाहिए। अगर सीमेन्ट का प्रयोग नितान्त आवश्यक हो तो उत्तम प्रकार की और चिनाई के रंग से मेल खाती हुई सीमेन्ट का ही प्रयोग करना चाहिए।

जहाँ मरम्मत करनी है पहले उस जगह की धूल हटाकर पूरी तरह सफाई कर देनी चाहिए फिर उसे पानी से धोना चाहिए। जोड़ों पर पर्याप्त गारा लगाना चाहिए। अधिकांशतः पानी दीवारों के सिरों से रिस कर ही दीवार के भीतर जाता है। अतः दीवार के सिरों को पूर्णतः जलावरोधक बनाना चाहिए, जिससे पानी और नमी दीवारों में प्रवेश न कर सके। ऊपर सतह की ईंटें अगर ढीली हो गयी हों तो उन्हें हटा कर और साफ कर पुनः ठीक तरह से और मजबूती से जोड़ना चाहिए।

जहाँ दीवार फूल गयी हो वहाँ ईंटों को निकाल कर पुनः उनकी सही ढंग से चिनाई करनी चाहिए। इसके लिए ईंटों को निकालने से पहले उन पर उनकी स्थिति के अनुसार क्रम संख्या अंकित कर देनी चाहिए और पुनः उसी क्रम में उनकी चिनाई करनी चाहिए। जो छड़ स्मारक के किसी भी हिस्से को सहारा देने के लिए लगाई जाय वह उत्तम प्रकार के लोहे की होनी चाहिए, अन्यथा आगे चलकर उस पर जंग लग जायेगा और स्मारक को हानि पहुँचेगी। जहाँ शहतीरों का प्रयोग आवश्यक हो वहाँ कंक्रीट के शहतीरों का प्रयोग करना चाहिए। जिन दीवारों के गिरने की संभावना हो उन्हें नीचे से सहारा दिया जाना चाहिए।

यदि स्तंभ गिरने वाले हों तो उनके आस–पास मूल स्तंभ के आकार–प्रकार और रंग में उसी से मिलते–जुलते स्तम्भ स्थापित करना चाहिए। छोटी दरारों को खाली सीमेन्ट से पाटना चाहिए और बड़ी दरारों को पाटने में ईंटों और रोड़ी का भी प्रयोग करना चाहिए। दीवार पर हथौड़े से घात कर उसकी ध्वनि से पता लगाना चाहिए कि उसमें खोखलापन तो नहीं है। छोटी खोखली जगह में सीमेन्ट भरना ही पर्याप्त होगा, देखना पड़ेगा कि उसकी ईंटें हटाकर चिनाई करना आवश्यक है अथवा सीमेन्ट रोड़ी से ही उसे भरना काफी होगा।

समुद्र तट पर स्थित स्मारकों की रक्षा के लिए समुद्र और स्मारक के मध्य पर्याप्त ऊँची दीवार खड़ी कर देनी चाहिए जिससे समुद्र की लहरें स्मारक तक न पहुँच सकें । महाबलीपुरम् में समुद्रतट स्थित मन्दिर के संदर्भ में ऐसा ही किया गया है। नम समुद्री हवाओं में लवण होता है और इसलिए समुद्र तटीय समारकों को इन हवाओं से बहुत हानि पहुँचती है। लवण से स्मारक को मुक्त करने के लिए कागज की लुग्दी से उपचार किया जाता है।

प्रागितिहासिक पुरास्थल तथा महापाषाण शवस्थलों का वर्षा, धूप आदि से बचाव करने के लिए उनके ऊपर आच्छादन निर्मित किया जा सकता है। किन्तु यह व्ययसाध्य होता है साथ ही अवशेषों के स्वरूप से मेल नहीं खाता। इनके ऊपर कंकरीट की छत बनाकर उसे मिट्टी से ढक दिया जा सकता है। लेकिन इस बात का प्रयास करना चाहिए कि उसमें प्रवेश की सहूलियत बनी रहे ।

ताजमहल, लालकिला आदि स्मारकों के साथ मूलतः उद्यान बनाये गये थे। उनमें यथासंभव मूल उद्यान अनुरूप उद्यान की व्यवस्था होनी चाहिए और जिन स्मारकों के साथ उद्यान नहीं भी थे (यथा लोदी तथा कुतुब स्मारक) उनको भी किंचित् आकर्षक पृष्ठभूमि देने के लिए उद्यान की व्यवस्था होनी चाहिए। किन्तु इस संदर्भ में यह ध्यान रखना चाहिए कि पुराविद् के लिए स्मारक मुख्य है और उद्यानों की व्यवस्था उन्हीं को आकर्षक बनाने के लिए है। अतः उद्यान इस तरह बनाये जाने चाहिए कि वे स्मारकों से अधिक ध्यान आकर्षित न करें। जिन पुरास्थलों यथा नागार्जुनीकोण्डा का विशाल बाँध निर्माण के फलस्वरूप जलमग्न होना निश्चित हो उनमें स्थित स्मारकों का विस्तृत लेखा–जोखा रखना चाहिए, उनके रेखाचित्र और छायाचित्र बनाने चाहिए और जहाँ तक संभव हो महत्त्वपूर्ण स्मारकों को समीपस्थ सुरक्षित स्थलों पर उनकी ही अनुकृति में पुनर्स्थापित करना चाहिए। लवण के प्रभाव से तथा पानी के रिसने से एलीफैण्टा की गुफाओं औरकलाकृतियों को बहुत हानि पहुँची है। उनके संरक्षण हेतु उपचार के दौरान गुफा के ऊपर की मिट्टी और वनस्पति हटा दी गयी, दरारों को पाट दिया गया और पूरी चट्टान पर जलावरोधक सीमेण्ट का लेप किया गया। अजन्ता की गुफाएँ क्षतिग्रस्त हो रही थीं ।

गुफाओं में स्तम्भों को सहारा देने के लिए मजबूत कंकरीट के खंभे बनाये गये, दरारें भरी गयीं, चट्टान के ऊपर जहाँ–जहाँ पानी के लिए ढाल थी वहाँ सीमेन्ट की पक्की नालियाँ बनायी गयीं ताकि पानी गुफाओं के ऊपर की चट्टान में न आये और वह नाली के रास्ते निकल जाय ।

अजन्ता के चित्र धूमिल पड़ रहे हैं। उनकी रंग की परतें धीरे–धीरे उखड़ रही हैं और छूने से उनका रंग उड़ने लगता है। कुछ समय पहले इनमें कुछ चित्रों का चटकीला रंग देखकर यह सोच कर उन पर वार्निश का लेप कर दिया गया था कि इससे वे सुरक्षित रहेंगे। लेकिन इससे वास्तव में चित्रों को हानि ही पहुँची । वह कुछ समय के बाद धूमिल होने लगे । अब नयी वैज्ञानिक तकनीक से उनका संरक्षण किया गया है। गुफा चित्रों के छायांकन के लिए फ्लैश का इस्तेमाल करने से भी उन्हें हानि पहुँचती है। इसलिए अब इस तरह से चित्र लेने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया है। बड़ी संख्या में लोगों के इन गुफाओं में एक साथ प्रवेश से गुफाओं के तापमान में वृद्धि से चित्रों को हानि पहुँची है। इसलिए अब एक बार गुफा में अधिकतम दस लोगों को प्रवेश की अनुमति है।

खजुराहो के मन्दिरों के ऊपर से वायुयानों की उड़ान के कारण उत्पन्न प्रकम्पन से उनमें दरारें पड़ने लगी थीं। दरारों की मरम्मत की गयी और वायुयानों के उड़ान के मार्ग में किंचित परिवर्तन कर दिया गया। यद्यपि इससे पूरी तरह समस्या का हल नहीं हुआ तथापि क्षति होने की गति में काफी कमी आयी।

भारत में विभिन्न प्रकार के स्मारकों तथा महापाषाणों, शैलकृत चैत्यों, मन्दिरों, स्तूपों, विहारों, कब्रों, किलों, मस्जिदों, प्रासादों तथा उत्खनन से प्राप्त स्मारकों का संरक्षण किया गया है। अजंता के गुफाचित्रों, लालकिला, कुतुबमीनार, काँगड़ा तथा कुल्लू के मन्दिर, ताजमहल, इतमादुद्दौला का मकबरा, फतेहपुर सीकरी के स्मारक, साँची के स्तूप, नालन्दा के विहार आदि कई महत्वपूर्ण स्मारकों का जीर्णोद्धार किया गया है। गंग राजा नरसिंह वर्मन द्वारा लगभग 1278 ई. में निर्मित कोणार्क के सूर्य

मन्दिर के अवशिष्ट भाग के इर्द गिर्द मलवा हटाकर इसके मूल रूप को स्पष्ट किया गया। इसके गर्भगृह का भाग तो नष्ट हो गया है पर उसका अगला भाग, जगमोहन सुरक्षित है। जगमोहन का शिखर गिर न जाय, इसलिए इसके भीतर पत्थर की दीवार बनाकर इसे बालू से भर दिया गया है।

स्मारकों के संरक्षण के लिए सामान्यजनों का सहयोग लेना अत्यन्त आवश्यक है । जनमानस में उनके संरक्षण के लिए जागरुकता पैदा करना और अपनी सांस्कृतिक धरोहर के प्रति सम्मान और प्रेम जगाना आवश्यक है। उसके लिए समाचार–पत्रों में लेख, भाषण, संगोष्ठियों आदि का आयोजन किया जाना चाहिए तथा रेडियो और टेलीविजन की सुविधाओं का भी उपयोग करना चाहिए ।

13.5 पुरावस्तुओं का रासायनिक संरक्षण

उत्खनन से प्राप्त पुरावस्तुओं का इतिहास निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान होता हैं। उनके अभाव में महत्वपूर्ण साक्ष्य नष्ट हो जाएंगे। अतः उनका परिरक्षण नितान्त आवश्यक है । उत्खनन से प्राप्त वस्तुएँ अक्सर जीर्ण–शीर्णदशा में होती हैं। दीर्घकाल तक भूमि में दबे रहने के कारण उनमें रासायनिक और भौतिक परिवर्तन होते हैं जिससे वे क्षतिग्रस्त हो जाती हैं। वस्तुओं में क्षति का कम या अधिक होना इन बातों पर निर्भर करता है कि (1) वस्तु किस चीज की बनी है। पत्थर तथा धातु की वस्तुएँ अधिक टिकाऊ होंगी, लकड़ी की बनी वस्तुएँ अपेक्षाकृत शीघ्र नष्ट हो जाएँगी। (2) भूमि जिसमें वस्तुएँ दबी पड़ी हैं, किस तरह की हैं और उसमें लवण की मात्रा कितनी है। जो भूमि लवणमुक्त होगी या जिसमें लवण कम होगा उसमें वस्तुएँ दीर्घकाल तक सुरक्षित रहेंगी। जिस भूमि में लवण अधिक होगा वहाँ वस्तुएँ शीघ्र नष्ट

हो जाएंगी। अम्लयुक्त भूमि भी पुरावस्तुओं को क्षति पहुँचाती है । (3) वस्तु कितने समय तक भूमि में दबी पड़ी है। यदि अल्पकाल तक भूमि में दबी रही है तो क्षति कम होगी और यदि दीर्घ काल तक दबी रही है तो क्षति अधिक होगी।

प्रायः ऐसा भी होता है कि उत्खनन से निकालते समय कुछ वस्तुएँ ठीक दशा में दिखती हैं लेकिन निकालने के कुछ समय पश्चात् वातावरण में परिवर्तन के कारण उसमें टूट–फूट होनी शुरू हो जाती है। कुछ उदाहरण में उसके बाद भी थोड़े काल तक तो वस्तुएँ उसी रूप में बनी रहती है जिस रूप में वे मिलती हैं, पर बाद में उसमें क्षय होने लगता है । अतएव यह आवश्यक है कि उत्खनन के तुरन्त पश्चात् ही वस्तुओं का उपचार शुरू कर दिया जाय। उपचार से पहले उसका रेखाचित्र और छायाचित्र तैयार करना आवश्यक है। उत्खनन स्थल में एक रसायनशाला होनी चाहिए और उचित यह होगा कि एक रसायनविद् भी उत्खनन के दल का सदस्य हो । साधारण पुरावस्तुओं का उपचार इस रसायनशाला में ही किया जा सकता है, पर जिसके लिए विशिष्ट उपचार आवश्यक है, उन्हें तुरन्त रसायनवेत्ता के पास भेजना चाहिए ।

उपचार की विधियाँ अनेक हैं किन्तु इस हेतु सुविधा के लिए वस्तुओं को तीन वर्गों में रख सकते हैं– (1) सैकत (बालू) तथा चूनेदार वस्तुएँ, मृद्भाण्ड, मृण्मूर्ति, पत्थर, कांचली मिट्टी, चूने, जिप्सम, इनेमल इत्यादि (2) धातु–सोना, चाँदी, ताँबा, लोहा, सीसा आदि (3) वानस्पतिक तथा जैविक पदार्थ–लकड़ी, कोयला, भूर्जपत्र, रेशम, लिनन, हड्डी, सींग, हाथीदाँत, चमड़ा आदि।

13.6 बालुकाश्म तथा चूने की वस्तुओं का संरक्षण

प्रायः प्रागितिहासिक एवं ऐतिहासिक काल के उत्खननों से प्राप्त वस्तु प्रकारों में मृद्भाण्ड सर्वाधिक संख्या में प्राप्त होते हैं। भलीभाँति पकाये गये बर्तन अक्सर अच्छी दशा में मिलते हैं पर कुछ लवण से प्रभावित होते हैं। यह आवश्यक है कि उन्हें शुद्ध जल से धोकर लवणमुक्त किया जाये। किन्तु पानी में धोने से पहले यह पता करना चाहिए कि बर्तन कच्चा तो नहीं है या उस पर चित्रण तो नहीं है और यदि चित्रण है तो उसे भाण्ड के पकाने के बाद

तो नहीं किया गया है, क्योंकि ऐसी दशा में सीधे पानी में डालने से कच्चा बर्तन धुल सकता है और भाण्ड पर पकाने के बाद किये गये चित्रण का रंग भी धुल सकता है।

लघु उपकरणों को गहरे काँच के बर्तन में रखकर सफाई करनी चाहिए। मृद्भाण्ड और हड्डियों को धोने के लिए पानी के टब के बीच में लकड़ी का ढाँचा, जिसके ऊपर खाँचे बने हों, रखना चाहिए। ढाँचे के ऊपर बर्तनों को रखकर टब को पानी से भर देना चाहिए। कुछ समय पश्चात् मृद्भाण्डों को ब्रश से रगड़ कर साफ करना चाहिए। यदि उन पर सख्त दाग पड़े हों तो उसको हटाने के लिए मरक्यूरिक एसिड का प्रयोग करना चाहिए। पानी आवश्यकतानुसार अन्तराल से बदलते रहना चाहिए। यह सुनिश्चित करना चाहिए कि वस्तुओं को धोने के लिए जिस जल का प्रयोग किया जाय वह खारा न हो, अन्यथा वस्तुओं को साफ करने के बदले उनमें और भी लवण प्रवेश कर जाएँगे जो उन्हें और भी जर्जर बना देंगे।

धुली वस्तुओं का परीक्षण कर पता लगाना चाहिए कि वे लवणमुक्त हो गयी हैं कि नहीं। इसके परीक्षण के लिए सिल्वर नाइट्रेट के घोल का प्रयोग करना चाहिए। यह घोल 5 ग्राम सिल्वर नाइट्रेट को 500 सी० सी० पानी में डाल उसमें 100 सी० सी० नाइट्रिक एसिड मिलाकर तैयार करना चाहिए। एक परखनली में कुछ शुद्ध जल लेना चाहिए और दूसरी में वह जल जिसमें वस्तुएँ धुली हों। दोनों में सिल्वर नाइट्रेट के घोल को बराबर–बराबर बूँदें डालनी चाहिए। यदि दोनों में एक जैसे दूधियापन आये तो समझना चाहिए कि वस्तुएँ में लवण अभी विद्यमान है। धुली वस्तुओं के पानी का समय–समय पर तब तक परीक्षण करते रहना चाहिए जबतक लवणमुक्त नहो गयी हैं।

रंगीन बर्तनों तथा कच्चे बर्तनों पर वाइनिल एसिटेट का घोल लगाना चाहिए। कच्ची ईंटों को 600 सफाई करने के पश्चात् धूप में अथवा 80 से 100 डिग्री के ताप पर भट्ठी में पकाने के पश्चात् ही धोना चाहिए। चूना, पत्थर तथा संगमरमर को धोने के लिए प्रयोग में लाये जाने वाले पानी में पेरिस के प्लास्टर को मिश्रित करना चाहिए अन्यथा घुलनशील होने के कारण उन्हें क्षति पहुँच सकती है।

पाषाण–निर्मित बड़ी वस्तुओं का कागज की लुग्दी से उपचार करना चाहिए। कागज को गरम पानी में रात भर भिगो कर सुबह कूट कर लुग्दी बनानी चाहिए। उसे पत्थर की बड़ी वस्तुओं पर तब तक लेप करना चाहिए जब तक वह लवणमुक्त न हो जाएँ। वस्तुएँ लवणमुक्त हो गयी हैं अथवा नहीं, इसकी जानकारी सिल्वर नाइट्रेट के परीक्षण से की जाती है। क्षतिग्रस्त वस्तुओं की मरम्मत के लिए वाइनिल एसिटेट के घोल का प्रयोग करना चाहिए। काँच, ग्लेज, इनेमल और कांचली मिट्टी की बनी वस्तुओं को पानी में डालने से पहले वाइनिल एसिटेट के घोल में डालना चाहिए ।

13.7 धातु की वस्तुओं का उपचार

उत्खनन से जब धातु की वस्तुएं प्राप्त होती है तो अलग–अलग धातु के लिए भिन्न–भिन्न प्रकार के रसायनों का प्रयोग किया जाता है।

13.7.1 सोना

अधिकतर सोने की वस्तुएँ काफी सुरक्षित मिलती हैं और उन्हें शुद्ध जल से साफ करना ही पर्याप्त होता है। यदि उन पर धब्बे हों तो एक या दो प्रतिशत पतले नाइट्रिक अम्ल से उपचार करना चाहिए।

13.7.2 चाँदी

चाँदी की बनी वस्तुओं का पाँच प्रतिशत जलीय सिट्रिक अम्ल से उपचार करना चाहिए । जहाँ क्षय सतही हो वहाँ पाँच प्रतिशत कास्टिक सोडे का प्रयोग ठीक रहेगा। चाँदी के सिक्कों को जस्ते की शीट में रखकर एसिटिक एसिड की कुछ बूँदें डाले हुए पानी में रखना चाहिए। यदि चाँदी में ताँबे का मिश्रण है तो तीन प्रतिशत गंधकीय अम्ल (सल्फ्यूरिक एसिड) का उपचार ठीक रहेगा। बाद में चाँदी की वस्तुओं को शुद्ध जल से धोना चाहिए।

13.7.3 ताँबा

ताँबे के साधारण उपकरणों को टार्टरिक एसिड एक भाग कास्टिक सोडा एक भाग पानी 10 भाग के घोल में रखना चाहिए। तत्पश्चात् शुद्ध जल से धाना चाहिए और दस प्रतिशत वाइनिल एसिटेट के घोल में डालना चाहिए ।

13.7.4 लोहा

जो लोहे की वस्तुएँ अच्छी दशा में मिले उन्हें विद्युत अपघटनी अपचयन (इलेक्ट्रोलिटिक रिडक्शन) से उपचार करना चाहिए। इसमें वस्तुओं को जस्ते की शीट में रखकर पाँच प्रतिशत कास्टिक सोडे के घोल में डालना चाहिए फिर जस्ते की शीट से निकाल कर 2 प्रतिशत पतले गंधकीय अम्ल (डायल्यूट सल्फ्यूरिक अम्ल) में कुछ मिनट रखने के बाद शुद्ध जल से धोना चाहिए। 80 डिग्री सेन्टीग्रेड के ताप पर सुखा कर दस प्रतिशत वाइनिल एसिटेट के घोल में डालना चाहिए। जो लोहे की वस्तुएँ अत्यन्त जीर्ण–शीर्ण दशा में हों उन्हें पाँच प्रतिशत कास्टिक सोडे के घोल में डालना चाहिए और साफ पानी में तब तक धोना चाहिए जब तक वस्तु क्लोराइड से मुक्त न हो जाय। यदि वस्तु पर दाग हो तो उन्हें करण्ड (कार्बेरिण्डम) की रेती से रगड़ कर हटाना चाहिए।

सतही तौर पर जंग लगे सीसे की वस्तुओं को इलेक्ट्रोलिटिक रिडक्शन से उपचार करने के बाद उन्हें उबले पानी से धोकर, उन पर वाइनिल एसिटेट घोल का लेप करना चाहिए। भविष्य में क्षति से बचाने के लिए उन्हें हवा बन्द डिब्बों में रखना चाहिए। 3- जैविक पदार्थ जल्दी टूटने और चिटकने लगती हैं। अतः उनका तुरन्त उपचार आवश्यक है। प्राचीन वस्तुएँ प्रायः अत्यन्त जीर्ण दशा में मिलती हैं और खुदाई से बाहर निकालने की दशा में हों उन्हें धागे से लपेट कर पानी में डालना चाहिए और दस प्रतिशत वाइनिल एसिटेट का घोल लगाकर सुखाना चाहिए। मानव कंकाल का छायाचित्रण कर उसे मजबूती देने के लिए उस पर दस प्रतिशत वाइनिल एसिटेट के घोल का लेप करना चाहिए। यदि वह

बहुत लवणग्रस्त हो तो कागज की लुग्दी से उपचार करना चाहिए और फिर उसे लिनन से लपेटना चाहिए। आवश्यकता पड़ने पर प्लास्टर ऑफ पेरिस से मजबूती प्रदान की जा सकती है।

13.8 वानस्पतिक तथा जैविक पदार्थ

पुराने कपड़े और कागज को दो ब्लाटिंग पेपर की शीट के बीच में रखकर लवणमुक्त करना चाहिए और हल्के ब्रश से दाग हटाना चाहिए। भूर्जपत्र को उबलते पानी वाले बर्तन में इस तरह लटकाना चाहिए कि वह पानी के सीधे सम्पर्क में न आये केवल भाप से प्रभावित रहे। फिर उसे ब्लाटिंग पेपर की शीटों के बीच में रखकर उसका पानी सुखाना चाहिए।

पानी सूखने पर 10 प्रतिशत वाइनिल एसिटेट का लेप करना चाहिए। लकड़ी अक्सर क्षतिग्रस्त दशा में मिलती है। उज्जैन तथा पाटलिपुत्र के नदी तट पर रक्षा दीवारों के रूप में प्रयुक्त लकड़ी अपेक्षाकृत सुरक्षित मिली है। खुदाई के दौरान जमीन से उठाने पर हवा लगते ही लकड़ी चिटकने लगती है। इसलिए उस पर गीला बुरादा या काई का लेप कर उसे रसायनवेत्ता के पास भेज देना चाहिए। रसायनवेत्ता उसे लवणमुक्त करता है और फिर 10 प्रतिशत वाइनिल बहुत सतर्कता से कागज की लुग्दी के उपचार एसिटेट का घोल लगाता है।

जैविक पदार्थों का उपचार करने के पश्चात् अजवाइन के सत या कार्बनडाईसल्फाइड का धूम्रीकरण करना चाहिए और उन्हें हवा बन्द डिब्बों या बक्सों में रखना चाहिए ।

13.9 सारांश

जैसा कि यह सर्वविदित है कि पुरातत्त्व पुरावशेषों का अध्ययन कर मानवीय क्रियाकलापों को पुनर्निर्मित करता है। हालांकि ये पुरावशेष जमीन के अंदर लंबे समय तक पड़े रहने के कारण जंग और काई लगने से नष्ट होते रहते हैं अतः इन पुरावशेषों के वास्तविक स्वरूप और कार्यविधि को समझने के लिए पुरावशेषों का परिरक्षण एवं संरक्षण घरेलू और वैज्ञानिक विधियों के द्वारा किया जाता हैं। भूमि के अंदर से प्राप्त पुरावशेष कई प्रकार के होते हैं अतः पुरावशेषों के माध्यमों को समझते हुए अलग–अलग

प्रकार से उनका संरक्षण और परिरक्षण पुरातत्त्विक विधा में किया जाता रहा है, ताकि पुरावस्तुओं के यथेष्ट ऐतिहासिक महत्त्व को समझा जा सके और मानवीय इतिहास की पुनर्संरचना कालक्रमानुसार की जा सके।

13.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. सर मॉर्टिमर व्हीलर, 'पृथ्वी से पुरातत्त्व' हिन्दी माध्यम निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय।
2. एच0 डी0 सांकलिया, पुरातत्त्व परिचय', डेक्कन कालेज, पूना।
3. के0 राजन, 'आर्कियोलॉजीः प्रिंसिपल एण्ड मेथड्स,' मनू पाथ्पिक्कम, तंजौर।
4. आर0 के0 वर्मा, 'क्षेत्रीय पुरातत्त्व' इलाहाबाद
5. वी0 के0 पाण्डेय, 'पुरातत्त्व मीमांसा', शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद।
6- अग्रवाल, डी0पी0 .1984. *द आर्कियोलॉजी ऑफ इण्डिया.* सेलेक्ट बुक सर्विस सिन्डीकेटः नई दिल्ली।
7- जैन, वी0के0 .2006. *प्रीहिस्ट्री एण्ड प्रोटोहिस्ट्री ऑफ इण्डियाः एन अप्रेजल.* डी0के0 प्रिन्टवर्ल्डः न्यू दिल्ली।
8- पाण्डेय, जे0एन0 2008. *पुरातत्त्व विमर्श.* प्राच्य विद्या संस्थानः इलाहाबाद।
9. शर्मा, जी0आर0 1985. *भारतीय संस्कृतिः पुरातात्विक आधार, नई दिल्ली* : नेशनल पब्लिशिंग हाउस।
10. जायसवाल, विदुला. 1989. *भारतीय इतिहास का मध्य–प्रस्तर युग.* स्वाती प्रकाशनः दिल्ली।
11. मिश्रा, वी0डी0 1997. *सम ऑसपेक्ट्स ऑफ इण्डियन आर्कियोलाजी.* प्रभात प्रकाशनः इलाहाबाद।

13.11 बोध प्रश्न

- प्राचीन स्मारकों के परिरक्षण पर निबन्ध लिखिए।
- पुरावस्तुओं के रासायनिक संरक्षण विषय पर टिप्पणी लिखिए।
- बालुकाश्म तथा चूने की वस्तुओं के संरक्षण पर प्रकाश डालिए।
- धातु की वस्तुओं के संरक्षण में प्रयुक्त रसायनों की विवेचना कीजिए।

इकाई–14– प्रमुख पुरातात्त्विक स्थल

इकाई की रूपरेखा

14.1 प्रस्तावना

14.2 उद्देश्य

14.3 तक्षशिला

14.4 हस्तिनापुर

14.4.1 विशाल नगर

14.4.2 महाभारत कालीन हस्तिनापुर

14.4.3 पुराण उल्लेख

14.4.4 जैन तीर्थ

14.4.5 त्रिधर्म स्थल

14.4.6 मेला स्थल

14.5 अहिच्छत्र

14.5.1 अहिच्छत्र : नामकरण

14.5.2 अहिच्छत्र का पौराणिक विवरण

14.5.3 अहिच्छत्र का इतिहास

14.5.4 पुरातात्विक इतिहास

14.6 अतरंजीखेड़ा

14.6.1 गैरिक मृद्भाण्ड संस्कृति

14.6.2 कृष्ण–लोहित मृद्भाण्ड संस्कृति

14.6.3 चित्रित धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति

14.6.4 उत्तरी काली चमकीली पात्र परम्परा संस्कृति

14.6.5 अन्य अवशेष

14.7 कौशाम्बी

14.7.1 चित्रित धूसर मृदभाण्ड संस्कृति

14.7.2 उत्तरी काली चमकीली मृदभांड संस्कृति

14.7.3 उत्तर–उत्तरी काली चमकीली मृदभांड संस्कृति

14.7.4 घोषिताराम बिहार

14.7.5 राज प्रासाद

14.7.6 सुरक्षा प्राचीर

14.8 राजघाट

14.8.1 प्रथम काल

14.8.2 द्वितीय काल

14.8.3 तृतीय काल

14.8.4 चतुर्थ काल

14.9 सारांश

14.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

14.11 बोध प्रश्न

14.1 प्रस्तावना

मानव के इतिहास को साक्षरता के आधार पर तीन कालखंडों में बांटा गया है– प्रागितिहास, आद्येतिहास और ऐतिहासिक काल। भारत के विभिन्न क्षेत्रों से इन कालखंडों से संबंधित बहुत से पुरास्थलों की खोज एवं उत्खनन का कार्य किया गया है, जिससे उक्त तीनों कालखंडो के सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक आयामों की जानकारी प्राप्त होती है। इस इकाई के अंतर्गत मानवीय इतिहास की उठापटक की कहानी को उद्घाटित करने वाले कुछ महत्वपूर्ण पुरास्थलों का वर्णन किया गया है, जिसमें तक्षशिला, हस्तिनापुर, अतरंजीखेड़ा, अतिरमपक्कम, अरिकामेडु, कौशाम्बी, राजघाट, आहिच्छत्र इत्यादि है।

14.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान सकेंगे–

- अतरंजीखेड़ा पुरास्थल के पुरातात्त्विक महत्व को
- अहिच्छत्र पुरास्थल के पुरातात्त्विक महत्व को
- राजघाट पुरास्थल के ऐतिहासिक महत्व के बारे में
- अरिकामेडु पुरास्थल की महत्ता को
- कौशाम्बी के इतिहास को

14.3 तक्षशिला

प्राचीन तक्षशिला के खण्डहरों को खोज निकालने का प्रयत्न सबसे पहले जनरल कनिंघम ने शुरू किया था, किन्तु ठोस काम 1912 ई0 के बाद ही भारतीय पुरातत्व विभाग की ओर से सर जॉन

मार्शल के नेतृत्व में शुरू हुआ और अब उसके कई स्थानों पर छितरे हुए अवशेष खोद निकाले गए हैं। लगता है, भिन्न भिन्न युगों में नगर विदेशी आक्रमणों के कारण ध्वस्त होकर नई बस्तियों के रूप में इधर–उधर सरकता रहा। उसकी सबसे पहली बस्ती पाकिस्तान के रावलपिंडी जिले में भीर के टीलों से, दूसरी बस्ती रावलपिंडी से 22 मील उत्तर सिरकप के खण्डहरों से और तीसरी बस्ती उससे भी उत्तर सिरसुख से मिली है।

ये बस्तियाँ क्रमशः पाँचवी और दूसरी शती ईसवी पूर्व के बीच, दूसरी और पहली शती ईसवी पूर्व के बीच (यूनानी–बाख्त्री युग) तथा पहली शती ईसा पूर्व और पहली ईसवी शती के मध्य (शक–कुषाण युग) की मानी जाती हैं। खुदाइयों में वहाँ अनेक स्तूपों और विहारों (विशेषतः कुणाल विहार) के चिह्न मिले हैं।

वर्तमान समय में तक्षशिला, पाकिस्तान के पंजाब प्रान्त के रावलपिण्डी जिले की एक तहसील तथा महत्वपूर्ण पुरातात्विक स्थल है जो इस्लामाबाद और रावलपिण्डी से लगभग 32 किमी उत्तर–पूर्व में स्थित है। ग्रैंड ट्रंक रोड इसके बहुत पास से होकर जाता है। यह स्थल 1980 से यूनेस्को की विश्व विरासत सूची में सम्मिलित है। वर्ष 2010 की एक रिपोर्ट में विश्व विरासत फण्ड ने इसे उन 12 स्थलों में शामिल किया है जो अपूरणीय क्षति होने के कगार पर हैं। इस रिपोर्ट में इसका प्रमुख कारण अपर्याप्त प्रबन्धन, विकास का दबाव, लूट, युद्ध और संघर्ष आदि बताये गये हैं।

तक्षशिला (पालि : तक्कसिला) प्राचीन भारत में गान्धार देश की राजधानी और शिक्षा का प्रमुख केन्द्र था। यहाँ का विश्वविद्यालय विश्व के प्राचीनतम विश्वविद्यालयों में शामिल है। यह हिन्दू एवं बौद्ध दोनों के लिये महत्व का केन्द्र था। चाणक्य यहाँ पर आचार्य थे। 405 ई में फाह्यान यहाँ आया था। तक्षशिला, ऐतिहासिक रूप से तीन महान मार्गों के संगम पर स्थित था–

(1) उत्तरापथ – वर्तमान ग्रैण्ड ट्रंक रोड, जो गान्धार को मगध से जोड़ता था,

(2) उत्तरपश्चिमी मार्ग – जो कापिशा और पुष्कलावती आदि से होकर जाता था,

(3) सिन्धु नदी मार्ग – श्रीनगर, मानसेरा, हरिपुर घाटी से होते हुए उत्तर में रेशम मार्ग और दक्षिण में हिन्द महासागर तक जाता था।

तक्षशिला की जानकारी सर्वप्रथम वाल्मीकि रामायण से होती है। अयोध्या के राजा रामचन्द्र की विजयों के उल्लेख के सिलसिले में हमें यह ज्ञात होता है कि उनके छोटे भाई भरत ने अपने नाना केकयराज अश्वपति के आमन्त्रण और उनकी सहायता से गन्धर्वो के देश (गान्धार)को जीता और अपने दो पुत्रों को वहाँ का शासक नियुक्त किया। गन्धर्व देश सिंधु नदी के दोनों किनारे, स्थित था (सिंधोरुभयतः पार्श्वे देशः परमशोभनः, वाल्मिकि रामायण, सप्तम, 100–11) और उसके दानों ओर भरत के तक्ष और पुष्कल नामक दोनों पुत्रों ने तक्षशिला और पुष्कलावती नामक अपनी–अपनी राजधानियाँ बसाई। तक्षशिला सिन्धु के पूर्वी तट पर थी। उन रघुवंशी क्षत्रियों के वंशजों ने तक्षशिला पर कितने दिनों तक शासन किया, यह बता सकना कठिन है। महाभारत युद्ध के बाद परीक्षित के वंशजों ने कुछ पीढ़ियों तक वहाँ अधिकार बनाए रखा और जन्मेजय ने अपना नागयज्ञ वहीं किया था। गौतम बुद्ध के समय गान्धार के राजा पुक्कुसाति ने मगधराज बिम्बिसार के यहाँ अपना दूतमण्डल भेजा था। छठी शती ई0 पूर्व फारस के शासक कुरुष ने सिन्धु प्रदेशों पर आक्रमण किया और बाद में भी उसके कुछ उत्तराधिकारियों ने उसकी नकल की। लगता है, तक्षशिला उनके कब्जे में चली गई और लगभग 200 वर्षों तक उसपर फारस का आधिपत्य रहा। मकदूनिया के आक्रमणकारी विजेता सिकंदर के समय की तक्षशिला की चर्चा करते हुए स्ट्रैबो ने लिखा है कि वह एक बड़ा नगर था, अच्छी विधियों से शासित था, घनी आबादीवाला था और उपजाऊ भूमि से युक्त था। वहाँ का शासक था बैसिलियस अथवा टैक्सिलिज। उसने सिकन्दर से उपहारों के साथ भेंट कर मित्रता कर ली। उसकी मृत्यु के बाद उसका पुत्र भी, जिसका नाम आंभी था, सिकन्दर का मित्र बना रहा, किंतु थोड़े ही दिनों पश्चात् चंद्रगुप्त मौर्य

ने उत्तरी पश्चिमी सीमा क्षेत्रों से सिकंदर के सिपहसालारों को मारकर निकाल दिया और तक्षशिला पर उसका अधिकार हो गया। वह उसके उत्तरापथ प्रान्त की राजधानी हो गई और मौर्य राजकुमार मन्त्रियों की सहायता से वहाँ शासन करने लगे। उसके पुत्र बिंदुसार, पौत्र सुसीम और पपौत्र कुणाल वहाँ बारी–बारी से प्रान्तीय शासक नियुक्त किए गये। दिव्यावदान से ज्ञात होता है कि वहाँ मत्रियों के अत्याचार के कारण कभी कभी विद्रोह भी होते रहे और अशोक (सुसीम के प्रशासकत्व के समय) तथा कुणाल (अशोक के राजा होते) उन विद्रोहों को दबाने के लिये भेजे गए। मौर्य साम्राज्य की अवनति के दिनों में यूनानी बारिव्त्रयों के आक्रमण होने लगे और उनका उस पर अधिकार हो गया तथा दिमित्र (डेमेट्रियस) और यूक्रेटाइंड्स ने वहाँ शासन किया। फिर पहली शताब्दी ईसवी पूर्व में सीथियों और पहली शती ईसवी में शकों ने बारी बारी से उस पर

अधिकर किया। कनिष्क और उसके निकट के वंशजों का उस पर अवश्य अधिकार था। तक्षशिला का उसके बाद का इतिहास कुछ अंधकारपूर्ण है। पाँचवीं शताब्दी में हूणों ने भारत पर जो ध्वंसक आक्रमण किये, उनमें तक्षशिला नगर भी ध्वस्त हो गया। वास्तव में तक्षशिला के विद्याकेंद्र का ह्रास शकों और उनके यूची उत्तराधिकारियों के समय से ही प्रारभं हो गया था। गुप्तों के समय जब फाह्यान वहाँ गया तो उसे वहाँ विद्या के प्रचार का कोई विशेष चिह्न नहीं प्राप्त हो सका था। वह उसे चो–श–शिलो कहता है। हूणों के आक्रमण के पश्चात् भारत आने वाले दूसरे चीनी यात्री युवान च्वांग (सातवीं शताब्दी) को तो वहाँ की पुरानी श्री बिल्कुल ही हत मिली। उस समय वहाँ के बौद्ध भिक्षु दुःखी अवस्था में थे तथा प्राचीन बौद्ध विहार और मठ खण्डहर हो चुके थे। असभ्य हूणों की दुर्दान्त तलवारों ने भारतीय संस्कृति और विद्या के एक प्रमुख केन्द्र को ढहा दिया था।

14.4 हस्तिनापुर

महाभारत काल में हस्तिनापुर का उल्लेख एक महत्वपूर्ण नगर के रूप में था। महाभारत में हस्तिनापुर को कुरु राजवंश के राजाओं की राजधानी बताया गया है। इसमें उल्लिखित है कि बाढ़ के बाद इसे कौशांबी में स्थानांतरित कर दिया गया था। छठी शताब्दी ईसा पूर्व में कुरु महाजनपद की यह नगर राजधानी थी। जैन परंपरा के अनुसार हस्तिनापुर जैनियों के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का जन्म स्थल था और महावीर इस स्थान पर बहुधा जाया करते थे। हस्तिनापुर ऊपरी गंगा घाटी में उत्तर प्रदेश के मेरठ जिले की मवाना तहसील में गंगा नदी के किनारे पर स्थित है। इस पुरास्थल के उत्खनन से पहले यह परिकल्पना की गयी थी कि हड़प्पा सभ्यता और ऐतिहासिक काल के मध्य विकसित संस्कृति के साक्ष्य प्राप्त होंगे। दूसरी परिकल्पना महाभारत महाकाव्य में इसका जिक्र था तो इससे संबंधित पुरातत्विक साक्ष्य की प्राप्ति की भी थी। इस पुरास्थल का सन् 1950–52ईस्वी के मध्य प्रो0 बी0बी0 लाल द्वारा उत्खनन कार्य करवाया गया। उत्खनन के परिणामस्वरूप यहाँ से पांच सांस्कृतिक कालों के साक्ष्य प्राप्त हुए, जिनका विवरण निम्नवत् हैं–

हस्तिनापुर का प्रथम काल गैरिक मृद्भांड संस्कृति से संबंधित है, जिसे मोटे तौर पर 1200बी0सी0 के मध्य का माना जाता है। इस चरण से गैरिक मृद्भांड और ताम्र निधियों के साक्ष्य प्राप्त होते हैं। यहाँ का दूसरा चरण चित्रित धूसर मृद्भांड संस्कृति का है, जिसको 1100से 600 बी0सी0के मध्य का माना जाता है। इस चरण से चित्रित धूसर मृदभांड के साथ–साथ कृष्ण–लोहित मृदभांड, कृष्ण–लेपित मृदभांड और लाल रंग के मृदभांड के साथ तांबे के उपकरण तथा बैल और घोड़े की मृण्मूर्तियाँ और आयरन स्लैग की प्राप्ति हुई है।

महाभारतकालीन महानगरों की श्रेणी में हस्तिनापुर भी आता था। हस्तिनापुर में युधिष्ठिर जुए में द्रौपदी सहित अपना सब कुछ हार गए थे। पांडवों की ओर से शांतिदूत बनकर श्रीकृष्ण यहीं धृतराष्ट्र की सभा में आए थे। अपने पिता शांतनु की सत्यवती से विवाह करने की इच्छा पूरी करने के लिए भीष्म पितामह ने अपना उत्तराधिकार छोड़ने और आजीवन अविवाहित रहने का प्रण यहीं पर किया था। द्रौपदी से विवाह के बाद कुछ समय के लिए पांडवों ने दिल्ली के निकट इंद्रप्रस्थ को अपनी राजधानी बनाया था, किंतु महाभारत युद्ध के बाद उन्होंने हस्तिनापुर को ही राजधानी रखा।

हस्तिनापुर उत्तर प्रदेश में मेरठ के निकट स्थित महाराज हस्ती का बसाया हुआ एक प्राचीन नगर, जो कौरवों और पांडवों की राजधानी थी। इसका महाभारत में वर्णित अनेक घटनाओं से संबंध है। महाभारत से जुड़ी सारी घटनाएँ हस्तिनापुर में ही हुई थीं। इसके अलावा हस्तिनापुर को चक्रवर्ती सम्राट भरत की भी राजधानी माना जाता है। यहाँ स्थित 'पांडेश्वर महादेव मंदिर' की काफी मान्यता है। कहा जाता है कि यह वही मंदिर है, जहाँ पांडवों की रानी द्रौपदी पूजा के लिए जाया करती थी। पौराणिक काल में हस्तिनापुर के राजा का नाम अधिसीम कृष्ण था।

मेरठ से 22 मील उत्तर–पूर्व में गंगा की प्राचीन धारा के किनारे हस्तिनापुर बसा हुआ है। हस्तिनापुर महाभारत के समय में कौरवों की वैभवशाली राजधानी के रूप में भारत भर में प्रसिद्ध था। प्राचीन नगर गंगा तट पर स्थित था, किन्तु अब नदी यहां से कई मील दूर हट गई है। गंगा की पुरानी धारा जिसे 'बूढ़ी गंगा' कहते हैं, यहां के प्राचीन टीलों के समीप बहती है। पौराणिक किंवदंती के अनुसार नगर की स्थापना पुरुवंशी वृहत्क्षत्र के पुत्र हस्तिन् ने की थी और उसी के नाम पर यह नगर हस्तिनापुर कहलाया।

हस्तिन् के पश्चात् अजामीढ़, दक्ष, संवरण और कुरु क्रमानुसार हस्तिनापुर में राज्य करते रहे। कुरु के वंश में ही शांतनु और उनके पौत्र पाण्डु तथा धृतराष्ट्र हुए, जिनके पुत्र पाण्डव और कौरव कहलाए।

14.4.1 विशाल नगर

महाभारत के युद्ध के समय हस्तिनापुर बड़ा विशाल नगर था। महाभारत आदिपर्व में इसका वर्णन इस प्रकार है–

'नगरं हास्तिनपुरं शनैः प्रविविशुस्तदा।

पांडवानागतांञ्छ्रुत्वा त्वा नागरास्तु कुतूहालात,

मंडयांचकिरेतत्र नगरं नागसाह्वयम।

मुक्तपुष्पावकीर्ण तज्जलसिक्तं तु सर्वशः,

घूषितं दिव्यघूपेन मंडनैश्चापि संवृतम्।

पताकोछ्रितमाल्यमं च पुरमप्रतिमंबभौ,

शंबभेरीनिनादैश्चनागवादित्रनिःस्वनैः।

कौतूहलेन नगरं दीप्यमानमिवाभवत,

तत्र ते पुरुषव्याघ्राः दुःखशोकविनाशनाः।

महाभारत में इस नगर का विस्तृत वर्णन मिलता है। इसके अनुसार विभिन्न शस्त्रों द्वारा सुरक्षित होने के कारण इस पुर के भीतर शत्रुओं का प्रवेश दुष्कर था। नगर के परकोटे में बने दरवाजे ऊँचे थे। नगर का भीतरी भाग राजमार्गों द्वारा विभक्त था। सड़कों के दोनों किनारों पर महल और बाजार सुशोभित थे। राजमहल नगर के बीच में स्थित था। इसमें अनेक सरोवर और उद्यान थे। नागरिक धर्मरत,

कर्तव्यपरायण, यज्ञादि में श्रद्धा रखने वाले, वर्णाश्रम–व्यवस्था के पोषक और धन–धान्य से सम्पन्न थे। सूत–मागध और बन्दी अपने–अपने कर्म में निरत थे। इनके द्वारा नगर की शोभा इतनी बढ़ गई थी कि वह इन्द्रलोक के समान सुन्दर लगता था।

14.4.2 महाभारत कालीन हस्तिनापुर

कहा जाता है कि महाभारत के समय हस्तिनापुर राज्य की उत्तरी सीमा 'शुक्करताल' (मुजफ्फरनगर जिला), दक्षिणी सीमा 'पुष्पवटी', और पश्चिमी सीमा 'वारणावत, तक थी। पूर्व की ओर गंगा प्रवाहित होती थी। गढ़मुक्तेश्वर शायद यहां का एक उपनगर था और मेरठ या 'मयराष्ट्र' भी इसकी परिसीमा के भीतर स्थित था। मेरठ से 15 मील उत्तर–पूर्व में स्थित 'मवाना' (मुहाना) नामक ग्राम को हस्तिनापुर का प्रमुख द्वार कहा जाता है। महाभारत के आदिपर्व में हस्तिनापुर के वर्धमान नामक पुरद्वार का उल्लेख है। पांडु की मृत्यु के पश्चात् शतश्रंग से हस्तिनापुर आते समय कुंती अपने पुत्रों सहित इसी द्वार से राजधानी में प्रविष्ट हुईं थी–

'सात्वदीर्घेण कालेन सम्प्राप्ताः कुरुजांगलम् वर्धमानपुरद्वारमाससाद यश–स्विनी।'

14.4.3 पुराण उल्लेख

पुराणों में कहा गया है कि जब गंगा की बाढ़ के कारण यह पुर विनष्ट हो गया, उस समय पाण्डव हस्तिनापुर को छोड़कर कौशाम्बी चले आये थे। यह घटना झूठी नहीं मानी जा सकती। हस्तिनापुर और कौशाम्बी में जो खुदाइयाँ हाल में हुई हैं, उनसे इसकी पुष्टि हो चुकी है। अब विद्वान इस बात को मानने लगे हैं कि गंगा की बाढ़ ने हस्तिनापुर को सचमुच ही किसी समय बहा दिया था। कौशाम्बी के कुछ प्राचीन बर्तन बनावट में हस्तिनापुर के बर्तनों के तुल्य हैं। इससे प्रमाणित होता है कि गंगा की बाढ़ के कारण पाण्डव हस्तिनापुर को छोड़कर कौशाम्बी में बस गये थे। हस्तिनापुर की आधुनिक खुदाइयों ने वहाँ की प्राचीन कला और संस्कृति पर प्रकाश डाला है। वहाँ के नागरिक अपने बर्तनों पर भूरे रंग की पालिश चढ़ाते थे। यह प्रथा मथुरा, इन्द्रप्रस्थ तथा महाभारतकालीन अन्य नगरों में

भी प्रचलित थी। इससे सिद्ध होता है कि उनका सामाजिक जीवन एकाकी नहीं था। वे एक–दूसरे से कोई बहुत दूर भी नहीं थे। जलमार्ग से एक–दूसरे से वे जुड़े हुये थे, अतः इन नगरों के निवासियों के बीच सांस्कृतिक सम्बन्ध कोई अनहोनी बात नहीं मानी जा सकती।

'विष्णुपुराण से ज्ञात होता है कि बलराम ने कौरवों पर क्रोध करके उनके नगर हस्तिनापुर को अपने हल की नोंक से खींच कर गंगा में गिराना चाहा था, किंतु बाद में उन्हें क्षमा कर दिया किन्तु उसके पश्चात् हस्तिनापुर गंगा की ओर कुछ झुका हुआ–सा प्रतीत होने लगा था–

'बलदेवस्ततोगत्वा नगरं नागसाह्वयम् बाह्योपवनमध्येऽभून्नविवेशतत्पुरम्।

'अद्याप्याघूर्णिताकारं लक्ष्यते तत्गुरं द्विज, एष प्रभावो रामस्य बलशौयोलक्षणः।'

इससे जान पड़ता है कि हस्तिनापुर को गंगा की धारा से भय कौरवों के समय में ही उत्पन्न हो गया था। परीक्षित के वंशज 'निचक्षु' या 'निचक्नु' के समय में तो वास्तव में ही गंगा ने हस्तिनापुर को बहा दिया और उसे इस नगर को छोड़कर वत्स देश की प्रसिद्ध नगरी कौशाम्बी में जाकर बसना पड़ा था–

'अधिसीमकृष्णान्निचक्नुः यो गंगया पहते हस्तिनापुरे कौशम्बयां निवत्स्यति।

पुरातात्विक खोजों से भी उपरोक्त तथ्य की पुष्टि होती है। उत्खनन से ज्ञात होता है कि हस्तिनापुर की सर्वप्राचीन बस्ती 1000 ई. पूर्व से पहले की अवश्य थी और यह कई शतियों तक स्थित रही। दूसरी बस्ती 900 ई. पू. के लगभग बसाई गई थी, जो 300 ई. पू. के लगभग तक रही। तीसरी बस्ती 200 ई. पू. से लगभग 200 ई. तक विद्यमान थी और अन्तिम 11वीं से 14वीं शती तक। इस प्रकार हस्तिनापुर का इतिहास कई बार बना और बिगड़ा।

परवर्ती काल में जैन धर्म के तीर्थ के रूप में इस नगर की ख्याति बनी रही। प्राचीन संस्कृत साहित्य में इस नगर के 'हस्तिनापुर', 'गजपुर', 'नागपुर', 'नागसाह्वय', 'हस्तिग्राम', 'आसन्दीवत' और 'ब्रह्मस्थल' आदि नाम मिलते हैं। कहा जाता है कि हाथियों के बहुतायत के कारण इस प्रदेश का प्रथम नाम 'गजपुर' था, बाद में राजा हस्तिन के नाम पर यह हस्तिनापुर कहलाया और महाभारत के युद्ध के पश्चात् यह नाग जाति का प्रमुख होने से 'नागपुर' या 'नागसाह्वय' कहलाया। ये सब पर्यायवाची नाम हैं। 'आसंदीवत का बौद्ध साहित्य में उल्लेख है। संभव है 'विष्णुपुराण' के उर्पयुक्त उल्लेख के अनुसार गंगा की ओर झुके होने के कारण ही

यह नाम पड़ा हो। इस उल्लेख में इसे 'कुरुट्ठ', की राजधानी बताया गया है। 'वसुदेव हिंडि' नामक ग्रंथ में 'ब्रह्मस्थल' नाम भी मिलता है। यह जैन ग्रंथ है।

कालिदास ने 'अभिज्ञान शाकुंतलम' में दुष्यंत की राजधानी हस्तिनापुर का उल्लेख किया है। दुष्यंत से 'गंधर्व विवाह' होने के पश्चात् शकुंतला ऋषि कुमारों के साथ कण्वाश्रम से दुष्यंत की राजधानी हस्तिनापुर गई थी–

'अनुसूये त्वरस्व, स्वरस्व, एतेखलु हस्तिनपुरगामिनः ऋषयः शब्दाय्यान्ते।

हस्तिनापुर के पूर्व की ओर गंगा के पार तत्कालीन समय में विस्तृत घना वन प्रदेश था, जहां दुष्यंत आखेट के लिए गया था और जहां मालिनी के तट पर कण्वाश्रम में उसकी भेंट शकुंतला से हुई थी। यह वन गढ़वाल की तराई क्षेत्र में स्थित था तथा इसका विस्तार बिजनौर तथा गढ़वाल के इलाके में था। वर्तमान हस्तिनापुर नामक ग्राम में, जो इसी नाम से आज तक प्रसिद्ध है, प्राचीन नगर के खंडहर, ऊंचे–नीचे टीलों की श्रृंखलाओं के रूप में दूर–दूर तक फैले हैं। मुख्य टीला 'बिदुर का टीला' या 'उलटखेड़ा' कहलाता है। इसकी खुदाई से अनेक प्राचीन अवशेष प्रकाश में आये हैं।

14.4.4 जैन तीर्थ

जैन समुदाय के बीच हस्तिनापुर को एक प्रमुख तीर्थ माना जाता है। हस्तिनापुर जैन धर्मावलंबियों का भी प्रसिद्ध तीर्थ है। यहाँ जैन धर्म के कई तीर्थंकरों का जन्म हुआ था। यही वजह है कि यहाँ काफी संख्या में जैन मंदिर मौजूद हैं। यहीं पर राजा श्रेयांस ने आदितीर्थकर ऋषभदेव को गन्ने के रस का दान दिया था। इसलिए इसको 'दानतीर्थ' कहते हैं। इसका संबंध शांतिनाथ, कुन्थुनाथ और अरनाथ नामक तीर्थकरों से भी है। यहाँ भगवान शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरहनाथ के चार–चार कल्याणक हुए हैं। यहाँ अनेक जैन धर्मशालाएं और मंदिर हैं। खुदाई में यहाँ अनेक प्राचीन खंडहर मिले हैं। इनमें करीब 200 साल पुराना बड़ा मंदिर, जंबूद्वीप, कैलाश पर्वत, अष्टापद जी, कमल मंदिर और ध्यान मंदिर मुख्य हैं। प्राचीन बड़ा मंदिर में हस्तिनापुर की नहर की खुदाई के दौरान प्राप्त हुई जिन

प्रतिमाओं को देखा जा सकता है। इन मंदिरों को काफी सुंदर और कलात्मक तरीकों से बनाया गया है।

जैन ग्रंथ 'विविधतीर्थकल्प' के अनुसार महाराज ऋषभदेव ने अपने सम्बंधी कुरु को कुरूक्षेत्र का राज्य दे दिया था। इन्हीं कुरु के पुत्र हस्ति ने हस्तिनापुर को भागीरथी के किनारे बसाया था। हस्तिनापुर में शान्ति, कुंधु और अरनाध तीर्थंकरों का जन्म हुआ था। ये क्रमशः 16वें, 17वें और 18वें तीर्थंकर थे। 5वें, 6वें और 7वें तीर्थंकरों ने यहाँ कैवल्य ज्ञान प्राप्त किया था। हस्तिनापुर नरेश बाहुबली के पौत्र श्रेयांश के निवास स्थान पर ऋषभदेव ने प्रथम उपवास का पारण किया था। विष्रग कुमार नामक जैन साधु जिन्होंने नमुचि नामक दैत्य को वश में किया था, हस्तिनापुर ही के निवासी थे। इनके अतिरिक्त सनत्कुमार, महापद्म, सुभूभ और परशुराम का जन्म भी हस्तिनापुर में हुआ था। यहाँ चार चैत्यों का निर्माण किया गया था।

14.4.5 त्रिधर्म स्थल

हस्तिनापुर पहला ऐसा तीर्थ स्थान है, जो हिन्दू और जैनों के साथ सिक्खों का भी पवित्र तीर्थ है। हस्तिनापुर के पास ही स्थित 'सैफपुर' सिक्ख धर्म के पंच प्यारों में से एक भाई धर्मदास की जन्मस्थली है। देश भर के श्रद्धालु यहाँ स्थित पवित्र सरोवर में डुबकी लगाने के लिए आते रहते हैं।

14.4.6 मेला स्थल

हस्तिनापुर में साल में कई छोटे–बड़े मेले लगते हैं। इनमें अक्षय तृतीया, होली और 2 अक्टूबर का मेला प्रमुख है। अक्षय तृतीया को देश भर से श्रद्धालु यहाँ भगवान को गन्ने के रस का आहार कराने के लिए आते हैं। यदि किसी को होली के रंग पसंद नहीं आते, तो हस्तिनापुर उनके लिए इनसे बचने की एक बेहतरीन जगह साबित हो सकता है। दुल्हैंडी वाले दिन यहाँ लगने वाले मेले में देश भर से होली नहीं खेलने वाले लोग आते हैं। साथ ही 2 अक्टूबर को लगने वाले मेले में भी काफी भीड़ उमड़ती है।

14.5 अहिच्छत्र

अहिच्छत्र की पहचान उत्तर प्रदेश के बरेली जनपद के आँवला तहसील में स्थित रामनगर से की गयी है। यह उत्तर वैदिक काल में उत्तरी पाञ्चाल की राजधानी थी। महाभारत और पूर्व बौद्ध काल में यह एक प्रसिद्ध नगर था। यह हिन्दू, बौद्ध और जैन धर्म से सम्बन्धित स्थान रहा है। ऐसा माना जाता है कि यहीं 23वें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ को केवल्य ज्ञान प्राप्त हुआ था। उत्तर प्रदेश के बरेली जिले के आंवला स्टेशन से कोई 10 किमी उत्तर में प्राचीन अहिच्छत्र के अवशेष प्राप्त हुए हैं। यहां तीन मील के त्रिकोणाकार घेरे में ईटों की किलेबंदी के भीतर बहुत से ऊँचे–ऊँचे टीले हैं। सबसे ऊँचा टीला 75 फुट का है। कनिंघम ने सबसे पहले यहाँ कुछ खुदाई कराई और बाद में फ्यूरर ने उसका अनुसरण किया। 1940–44 में यहाँ चुने हुए स्थानों की खुदाई हुई, जिसमें भूरी मिट्टी के ठीकरे मिले। महाभारतकाल का तो कोई प्रमाण यहाँ नहीं मिला, पर शुंग, कुषाण और गुप्तकाल की अनेक मुद्राएँ, पत्थर और मिट्टी की मूर्तियाँ मिलीं। बाद के काल के रहने के स्थान, सड़कें और मंदिरों के अवशेष भी मिले हैं।

महाभारत के अनुसार उत्तर पाँचाल की राजधानी अहिच्छत्र को कुरुओं ने वहाँ के राजा से छीनकर द्रोण को दे दिया था। कहा जाता है, द्रोण ने द्रुपद को अपने शिष्यों की सहायता से हराकर प्रतिशोध लिया था और उसका आधा राज्य बाँट लिया था। अहिच्छत्र के पाँचाल जनपद का इतिहास ई.पू. छठी शताब्दी से मिलता है। तब यह 16 महाजनपदों में से एक था। मुद्राओं और लेखों से ज्ञात होता है कि ई.पू. पहली शताब्दी में मित्रवंश के राजाओं ने अहिच्छत्र में राज किया। कुछ विद्वानों ने इस वंश को शुंग राजाओं का वंश सिद्ध करने का प्रयास किया। पर वास्तव में ये प्रांतीय शासक थे, मुद्रांकित नामों के आधार पर बनी, तालिका से इस वंश की लंबी सूची से ऐसा प्रतीत होता है। इसके बाद का

इतिहास नहीं मिलता। गुप्तसाम्राज्य में निःसंदेह यह एक भुक्ति था। चीनी चात्री युवान च्वांग ने यहाँ पर 10 बौद्ध विहार और नौ मंदिर देखे थे। 11वीं शताब्दी तक इसका राजनीतिक महत्त्व था।

14.5.1 अहिच्छत्र : नामकरण

अहिच्छत्र के कई नाम मिलते हैं, जैसे – अहिछत्र, अहिक्षेत्र आदि। अहि का अर्थ होता है– नाग, सर्प। क्षेत्र का अर्थ है – भूभाग। इस अर्थ में नागवंशी लोगों के निवास स्थान होने के कारण इसका नाम अहिक्षेत्र पड़ गया।

'वेबर के अनुसार 'शतपथ ब्राह्मण' में उल्लिखित परिवका या परिचका नगरी को महाभारत में वर्णित एकचक्रा सम्भवतः अहिच्छत्र माना है।'

'महाभारत में इसको अहिक्षेत्र और छत्रावती भी कहा गया है।'

जैन अनुश्रुतियों के अनुसार अहिच्छत्र नाम का उद्‌भव 23वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ से है। जैनियों के अनुसार नगर में बाढ़ आयी तब ध्यानस्थ पार्श्वनाथ को बचाने के लिये नागवंशी शासक धरानिंद्र ने उनके चारों ओर कुंडली मारकर ऊपर फण का छत्र बना लिया। तब से इस स्थान का नाम अहिच्छत्र पड़ गया।

विविधतीर्थकल्प (जैन ग्रन्थ) में इसका एक नाम 'संख्यावती' भी मिलता है। साथ ही जैन ग्रन्थ तीर्थमालाचौत्यवंदन में इसका एक अन्य नाम 'शिवपुर' मिलता है।

वंदे श्री करणावती शिवपुरे नागद्रहे नाणके।

जैन ग्रन्थों में अहिच्छत्र का एक और नाम 'शिवनगरी' भी प्राप्त होता है।

टॉलमी ने अहिच्छत्र को 'अदिसद्रा' नाम से अभिहित किया है।

14.5.2 अहिच्छत्र का पौराणिक विवरण

महाभारत से ज्ञात होता है कि अर्जुन ने महाराज द्रुपद को परास्त करके गुरुदक्षिणा के रूप में उत्तरी पाञ्चाल को अपने गुरू द्रोणाचार्य को दिया था जिसकी राजधानी अहिच्छत्र थी। महाभारत के आदिपर्व में इसका विवरण इस तरह मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि पहले पाञ्चाल नामक एक ही जनपद था। बाल्यकाल में द्रुपद और द्रोण एक ही गुरूकुल में साथ–साथ पढ़ते थे। द्रुपद ने उस समय अपने मित्र द्रोण को कुछ वचन दिया था।

कालान्तर में जब द्रोणाचार्य राजा द्रुपद से अपने पुत्र अश्वत्थामा को दूध पिलाने के लिए काम्पिल्य जाकर गाय माँगी तो राजसभा में उनका अपमान किया गया। इसी अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए द्रोणाचार्य कुरु राज्य में आये और ऐसे शिष्य तैयार किये जो उनको (द्रुपद) पराजित कर सके।

द्रोणाचार्य की इस इच्छा का अर्जुन ने मान रखा। द्रुपद को पराजित करके जब द्रोणाचार्य के समक्ष पाण्डवों ने प्रस्तुत किया तब पाञ्चाल राज्य के उत्तरी भाग को द्रोणाचार्य ने ले लिया और इसकी राजधानी बनी अहिच्छत्र। दक्षिणी पाञ्चाल द्रुपद के पास ही रही। अहिच्छत्र कुरु राज्य के बगल में ही स्थित था। इस तरह आधुनिक रुहेलखंड के बरेली, बदायूँ और फर्रुखाबाद से मिलकर बने पाञ्चाल राज्य के दो भाग थे–

1. उत्तरी पाञ्चाल जिसकी राजधानी अहिच्छत्र थी।

2. दक्षिणी पाञ्चाल जिसकी राजधानी काम्पिल्य थी। काम्पिल्य की पहचान फर्रुखाबाद के कम्पिल से की गयी है।

एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि स्वयं द्रोपदी के अन्य नामों में पांचाली भी उनका एक नाम था।

14.5.3 अहिच्छत्र का इतिहास

महाजनपदकाल में पाञ्चाल एक प्रमुख महाजनपद था। मौर्य सम्राट अशोक ने यहाँ पर एक स्तूप का निर्माण करवाया था। उत्खनन से ज्ञान होता है कि लगभग 300 ई०पू० में यहाँ बड़ी जनसंख्या आवासित थी। भवन कच्ची ईंटों के बनाये गये थे।

कुषाणकाल (लगभग प्रथम शताब्दी ई०पू०) में इस स्तूप को पक्की ईंटों की चहारदीवारी से आबद्ध कर दिया गया। इस चहारदीवारी के दीवार की लम्बाई लगभग 3.5 किलोमीटर है। इस काल में भवन निर्माण में पकी हुई ईंटों का प्रयोग देखने को मिलता है। भवनों को पंक्तिबद्ध स्वरूप में बनाया गया था। कुषाणकालीन अवशेष में कटोरे, सुराहीनुमा, हजारे, दावात इत्यादि प्रमुख हैं। यहाँ से मित्र शासकों के सिक्के मिलते हैं। कुषाण, पाञ्चाल और अच्यु नाम से अंकित मुद्राएँ भी मिली हैं। अहिच्छत्र से ताम्र व लौह उपकरण पर्याप्त संख्या में मिलते हैं। एक गुप्तकालीन मुहर मिली है जिसपर 'अहिच्छत्र भुक्ति' अंकित है।

समुद्रगुप्त के प्रयाग प्रशस्ति की 13वीं पंक्ति में अच्युत नामक जिस शासक का उल्लेख है उसकी पहचान यहीं के राजा से की गयी है। अच्युत नागवंशी शासक थे।

हर्षवर्धन के समय आये चीनी यात्री ह्वेनसांग (युवानच्वांग) ने 640 ई० के लगभग इस स्थान की यात्रा की थी। वह लिखता है कि 'दुर्ग के बाहर नागह्रद नाम का एक सरोवर है, जिसके पास नागराज ने बौद्ध धर्म को अंगीकार किया था और इस तालाब पर एक छत्र निर्मित करवाया था।' अहिच्छत्र से

मिले ध्वंसावशेषों में से सर्वप्रसिद्ध पुरावशेष ढूहा एक स्तूप का है। इस स्तूप की आकृति चक्की के सदृश होने के कारण इसको स्थानीय लोग 'पिसनहारी का छत्र' कहकर बुलाते हैं। लोकानुश्रुति के अनुसार यह स्तूप उसी स्थान पर बना है है जहाँ पर भगवान बुद्ध ने स्थानीय नागवंशी शासकों को बौद्ध धर्म में दीक्षित किया था। यहाँ से प्राप्त पुरावशेषों को लखनऊ के संग्रहालय में सुरक्षित रखा गया है।

14.5.4 पुरातात्विक इतिहास

पुरातत्ववेत्ताओं के अनुसार यह एक लौहयुगीन स्थल है। यहाँ से चित्रित धूसर मृदभाण्ड (Painted Grey Ware – PGW) मिलते हैं। कुषाणकाल से लेकर गुप्तकाल के प्रारम्भिक समय तक यह एक समृद्ध नगर था। गुप्तकाल के परवर्ती समय से इसके पतन की सूचना मिलती है। रामपुर के निकट स्थित अहिच्छत्र का इतिहास पुरातात्विक खोजों से ज्ञात हो जाता है कि इसका इतिहास काफी समृद्धशाली रह चुका है। भारतीय इतिहास के प्रत्येक काल की अपनी सभ्यता, संस्कृति और विशेषता रही है। रामपुर के निकट स्थित अहिच्छत्र लौह युग (1500 ईसा पूर्व से 800 ईसा पूर्व) का एक प्रसिद्ध शहर था। जिसका उल्लेख महाभारत में पांडवों की राजधानी के रूप में कई बार किया गया है। वर्तमान समय में इसके अवशेष ही शेष रह गए हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि यहां चित्रित धूसर मृदभांड (पेंटेड ग्रे वेयर– Painted Grey Ware culture- PGW) संस्कृति को अपनाया गया था, जो लौह युग की प्रमुख विशेषताओं में से एक थी। यह लाल और काले मृदभाण्डों के बाद प्रचलन में आयी। पी. जी.डब्ल्यू. संस्कृति गाँव और कस्बों, हाथी दांत पर किए जाने वाले कार्यों और लौह धातु विज्ञान के आगमन से जुड़ी है। अब तक 1100 से अधिक पी.जी.डब्ल्यू. स्थल खोजे जा चुके हैं।

पुरातत्त्वविद् विनय कुमार गुप्ता के ताजा सर्वेक्षण बताते हैं कि मथुरा क्षेत्र में लगभग 375 हेक्टेयर में सबसे बड़ी पी.जी.डब्ल्यू. साइट थी। सबसे बड़े स्थलों में हाल ही में खोदा गया अहिच्छत्र भी शामिल है। अहिच्छत्र 16 महाजनपदों में से एक थी और पांचालइसकी राजधानी था। यह उन पुरातात्त्विक स्थलों में से एक है, जिसने लगातार विद्वानों और शोधकर्ताओं का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है।

प्रसिद्ध पुरातत्त्वविद कनिंघम, चीनी यात्री ह्वेन सांग के मार्ग का पता लगाते हुए, 1862–64 के दौरान यहां पहुंचे। इन्होंने इस क्षेत्र का गहनता से अध्ययन किया। अपने विवरण में इन्होंने बताया कि अहिच्छत्र रामनगर गांव के निकट स्थित एक क्षेत्र है, जो 30 से 35 फीट ऊँची प्राचीर से घिरा हुआ त्रिकोणीय आकृति का था। इसके पश्चिम में 1,462 मीटर लंबा क्षेत्र है तथा पूर्व में यह 2,000 से अधिक मीटर तक फैला हुआ है।

अहिच्छत्र के रामगंगा और गंगा के बीच स्थित होने के बावजूद भी यहां पानी का कोई बारहमासी स्रोत नहीं था। यह भारत में सबसे बड़ा (क्षेत्रवार) और संभवतः सबसे लंबे समय (2000 ईसा पूर्व से 1100 ईस्वी) तक जीवित रहने वाला स्थल है। यहां की सबसे पहली ज्ञात संस्कृति गेरू रंग के बर्तनों (Ochre Colour Pottery) की है। यहां के लोग पी.जी.डब्ल्यू. संस्कृति से प्रभावित थे। हालांकि अधिकांश पी.जी.डब्ल्यू. क्षेत्र छोटे खेती वाले गांव थे। इस संस्कृति में चावल, गेहूं, बाजरा और जौ आदि की खेती की जाती थी तथा भेड़, सूअरों और घोड़ों को पालतू पशु बनाया गया था। पी.जी.डब्ल्यू. संस्कृति गंगा के मैदान और भारतीय उपमहाद्वीप की घग्गर–हकरा घाटी तक फैली हुयी थी, जो संभवतः मध्य और उत्तर वैदिक काल से मेल खाती है। पी.जी.डब्ल्यू. संस्कृति के लोग कला और शिल्प के क्षेत्र में पारंगत थे। उनके द्वारा खूबसूरत आभूषण (टेराकोटा (Terracotta), पत्थर, मिट्टी और कांच से निर्मित), मानव और जानवरों की मूर्तियाँ (टेराकोटा से निर्मित) तथा सजी हुई किनारियों और ज्यामीतिय आकृतियों वाली टेराकोटा के चक्र बनाए गए थे, जो संभवतः धार्मिक उद्देश्यों से संदर्भित रहे होंगे। अपने काल के अंतिम चरण में, पी.जी.डब्ल्यू. की कई बस्तियां उत्तरी काली चमकीली मृदभाण्ड (Northern Black Polished Ware -NBPW) काल के बड़े नगरों और शहरों में विकसित हुईं।

14.6 अतरंजीखेड़ा (27°41′ उत्तर, 78°41′ पूर्व)

अतरंजीखेड़ा पश्चिमी उत्तर प्रदेश के एटा जिला में गंगा की सहायक काली नदी के तट पर स्थित है। अबुल फजल ने 'आइने अकबरी' में अतरंजी का उल्लेख कन्नौज के एक महल के रूप में

किया है। यहाँ पर 1962 ई. में परीक्षणात्मक खुदाई की गयी। 1964 ई. से सात वर्षों तक लगातार उत्खनन का कार्य यहाँ पर किया गया। प्रारम्भिक उत्खननों का निर्देशन अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ के प्रोफेसर नुरुल हसन और आर. सी. गौड़ ने किया। इस स्थान की खुदाई से विभिन्न काल की अनेकानेक पुरातात्विक वस्तुएं प्राप्त हुई हैं, जिससे विभिन्न संस्कृतियों के संबंध में महत्वपूर्ण जानकारियां प्राप्त होती हैं। उत्खनन से यह भी स्पष्ट होता है कि पूर्व–मध्यकाल तक यह एक महत्वपूर्ण स्थल था।

इस स्थ्ल के बारे में कहा जाता है कि राजा बेन ने मुहम्मद गोरी को उसके कन्नौज–आक्रमण के समय परास्त किया था किंतु अंत में बदला लेकर गोरी ने राजा बेन को हराया और उसके नगर को नष्ट कर दिया। एक ढूँह के अन्दर से हजरत हसन का मकबरा निकला था– जो इस लड़ाई में मारा गया था। यहां के विशाल खंडहरों के उत्खनन में, जो एक विस्तृत टीले के रूप में हैं (टीला 3960 फुट लम्बा, 1500 फुट चौड़ा और प्रायः 65 फुट ऊंचा है) शुंग, कुषाण और गुप्तकालीन मिट्टी की मूर्तियां, सिक्के, ठप्पे, ईंटों के टुकड़े आदि बड़ी संख्या में प्राप्त हुए हैं।

खंडहर के एक सिरे पर एक शिवमंदिर के अवशेष हैं जिसमें पांच शिवलिंग हैं। इनमें एक नौ फुट ऊंचा है। टीले की रूपरेखा से जान पड़ता है कि इसके स्थान पर पहले एक विशाल नगर बसा हुआ था। यहाँ से दो हजार वर्ष ई. पूर्व. से लेकर अकबर के शासनकाल तक के अवशेष प्राप्त हुए हैं। इन अवशेषों के आधार पर यहाँ की संस्कृतियों को चार स्तरों में बाँटा जा सकता है।

अवशेषों के आधार पर अतरंजीखेड़ा की संस्कृतियों को चार स्तरों में बाँटा जा गया है।

- गैरिक मृद्भाण्ड संस्कृति
- कृष्ण–लोहित मृद्भाण्ड संस्कृति
- चित्रित धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति

- उत्तरी काली चमकीली पात्र परम्परा संस्कृति।

14.6.1 गैरिक मृद्भाण्ड संस्कृति

प्रथम गैरिक मृद्भाण्ड संस्कृति स्तर से प्राप्त गेरुए रंग के मृद्पात्रों के आधार पर इसे गैरिक मृद्भाण्ड परम्परा कहते हैं। गेरुए रंग के ये पात्र अधिकांशतः चाक निर्मित एवं कुछ हस्त निर्मित भी हैं। इनमें घड़े, कलश, पेंदीदार कटोरे, मटके, तसले, नाँद आदि मोटी गढ़न के हैं। तश्तरियाँ, चिलमची, घुण्डीदार कटोरेनुमा ढक्कन, दीपक और छोटे कलश पतली गढ़न के हैं। कुछ पात्र चित्रित हैं और कुछ पर अनियमित रेखाएँ हैं। इस काल के लोग अधिकांश खेतिहर थे। वे धान, जौ एवं दालों की खेती से परिचित थे। इस स्तर से अनाज पीसने के सिलबट्टे भी प्राप्त हुए हैं। प्रथम संस्कृति का समय आमतौर से 2000 ई.पूर्व. से 1500 ई.पूर्व. माना जाता है।

14.6.2 कृष्ण–लोहित मृद्भाण्ड संस्कृति

द्वितीय कृष्ण–लोहित मृद्भाण्ड संस्कृति के स्तर से जिस संस्कृति के अवशेष मिलते हैं, उनके निवासी काले–लाल मृद्भाण्डों का उपयोग करते थे। इस परम्परा के पात्रों का अन्दर एवं गर्दन का भाग काला और शेष भाग लाल रंग का होता है। पात्रों के अतिरिक्त इस स्तर से वर्गाकार एवं आयताकार चूल्हे मिले हैं। ताँबे और हड्डियों के अवशेष भी प्राप्त हुए हैं।कृष्ण–लोहित मृद्भाण्ड संस्कृति में माणिक्य के फलक काफी संख्या में मिले हैं। इस स्तर का काल 1450 ई. पूर्व. से 1200 ई. पूर्व. माना जाता है।

14.6.3 चित्रित धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति

तृतीय कालखण्ड का सम्बंध चित्रित धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति से है क्योकि इस स्तर से चित्रित धूसर–मृद्भाण्ड के टुकडे प्राप्त हुए हैं। इनमें अधिकतर चाक निर्मित हैं, परंतु कुछ हाथ के बने हुए भी हैं। इन पात्रों में कटोरे एवं थालियाँ महत्त्वपूर्ण हैं। इस परम्परा में पात्रों पर चित्रण भी मिलते हैं। ये

चित्रण प्रायः रेखीय, बिन्दु, वृत्त, अर्द्धवृत्त आदि के रूप में हैं। चित्रितधूसर मृद्भाण्ड संस्कृति में स्वस्तिक चिह्न का भी चित्रण मिलता है।

ये प्रायः धूसर रंग के हैं। इस परम्परा के साथ काले–लाल एवं बिना अलंकरण वाले धूसर भाण्ड परम्परा के पात्र भी प्राप्त हुए हैं। इस स्तर से लौह उपकरण भी प्राप्त हुए हैं, जो निचले स्तर से ऊपर की ओर संख्या में अधिक होते गए हैं। मुख्यतः बाण के अग्र भाग, भाला–फलक, चिमटे, कीलें, कुल्हाड़ी, मछली पकड़ने के काँटे, छल्ले, छेनी, बरमा आदि मिले हैं। अतरंजी खेड़ा से लौह गलाने की भट्टियों के संकेत भी मिले हैं। इस काल में कृषि के साक्ष्य के रूप में गेहूँ के अवशेष भी प्राप्त होते हैं। कृषि के साथ मवेशी भी पाले जाते थे। गाय, बैल, भेड़, बकरी और घोड़े के चिह्न भी प्राप्त हुए हैं। इस स्तर से आवासीय चिह्न मिलते हैं। आवास बाँस–लकड़ी से निर्मित होते थे। मिट्टी की पशु मूर्तियाँ, पहिये एवं मनके प्राप्त हुए हैं। ताँबा और हड्डी से निर्मित वस्तुएँ भी मिली हैं। घरों में चूल्हों के साथ–साथ आग के गड्ढे भी मिले हैं। इस संस्कृति की काल गणना 1200 ई.पूर्व. से 600 ई.पूर्व. तक की जाती है।

14.6.4 उत्तरी काली चमकीली पात्र परम्परा संस्कृति

चतुर्थ कालखण्ड का सम्बंध उत्तरी काली चमकीली पात्र परम्परा संस्कृति से है क्योकि इस स्तर से उत्तरी काली ओपदार भाण्ड परम्परा के पात्र प्राप्त होते हैं। ये पात्र अच्छी तरह से गुँथी हुई मिट्टी से बने हुए, काले रंग की विशेष चमक लिए हुए हैं। ये पात्र पतली गढ़न के हल्के, अच्छी प्रकार के एवं धातु के पात्रों की तरह के खनक वाले हैं। पात्रों में थाली–कटोरे, छोटे कलश, हांडियाँ आदि प्रमुख हैं। यह स्तर अधिक व्यापक एवं मोटे जमाव में पाया गया है। इस स्तर के आवासों में क्रमशः ईंटों का प्रयोग देखने को मिलता है। घास–फूस एवं बाँस–लकड़ी के मकानों के साथ–साथ ऊपरी परतों में पकायी हुई ईंटों के मकानों के अवशेष मिलते हैं। इस स्तर से मिट्टी के मनुष्य, पशु एवं पक्षियों की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। लोहे, ताँबे एवं हाथी के दाँत तथा हड्डियों से निर्मित वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं। इस स्तर का समय बुद्ध काल से लेकर 50 ई.पूर्व. का माना जाता है।

14.6.5 अन्य अवशेष

उत्खन्न में यहां पर पीजीडब्ल्यू संस्कृति (1000 ई.पू.–600 ई. पू.) के समृद्ध निक्षेपों में लोहे से बनी वस्तुएं जैसे भाले की नोक, तीर की नोक, चाकू, कुल्हाड़ी इत्यादि हैं। यह संकेत करता है कि यहां पर लौह उद्योग भली प्रकार से विकसित था तथा लोहे के उपयोग के कारण ही गंगा की घाटी में वनों को कृषि हेतु साफ किया गया था। प्राप्त साक्ष्य नरकुल एवं मिट्टी से बने घरों के साथ–साथ फसलों की खेती की ओर संकेत करते हैं।

एनबीपीडब्ल्यू अवधि में (छठी–दूसरी शताब्दी ई.पू.) खेती हेतु लोहे से बने औजारों का प्रयोग बढ़ गया। सिक्कों, मुहरों, टेराकोटा से बनी लघुमूर्तियों तथा जली ईंटों के प्रयोग के साक्ष्य भी इस अवधि में स्थल के नगरीय स्वरूप की ओर संकेत करते हैं। कुषाणकाल के सिक्के की प्राप्ति एक महत्वपूर्ण खोज है तथा इस बात की ओर संकेत करती है कि यहां पर कुषाण वंश का शासन था। जैन तीर्थंकर की मूर्ति के साथ अन्य उत्तम मूर्तियां गुप्त तथा उसके बाद के काल को दर्शाती हैं। अतरंजी खेड़ा के उत्खनन से प्राप्त पशुओं की अस्थियों में अधिकांश गाय–बैलों की हैं। उन पर काटने के स्पष्ट चिह्न हैं तथा अधिकतर की तिथि 500 ई.पूर्व. से पहले की है। इससे यह प्रमाणित होता है कि यज्ञों में इन पशुओं की बलि दी गई थी। इस प्रकार के तथ्यों के आधार पर प्रोफेसर रामशरण शर्मा ने 'प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएँ में यह मत प्रकट किया है कि वैदिक धार्मिक स्वरूप लोहे के फल वाले हल से होने वाली कृषि के अनुकूल नहीं था। मोटे तौर पर अतरंजीखेड़ा से इसके आर्य संस्कृति के केन्द्र होने के व्यापक प्रमाण मिलते हैं। पशुपालन, खेतिहर समुदाय, चावल की खेती, लोहे की उपस्थिति, चित्रित धूसर भाण्ड संस्कृति आदि तथ्य अतरंजीखेड़ा की विशेषताएँ है।

14.7 कौशाम्बी

प्रयागराज के दक्षिण–पश्चिम 63 किलोमीटर की दूरी पर स्थित कौशांबी पहले 'कोसम' के नाम से जाना जाता था। यह बौद्ध एवं जैन धर्म का प्राचीनतम केंद्र है। महाजनपद काल में यह वत्स महाजनपद के राजा उदयन की राजधानी थी। पुराण के अनुसार हस्तिनापुर नरेश निचक्षु ने जो राजा परीक्षित के वंशज युधिष्ठिर से सातवीं पीढ़ी में थे, हस्तिनापुर को गंगा द्वारा बहा दिए जाने पर अपनी राजधानी वत्स देश की कौशांबी नगरी में बनाई थी। इसी कौशाम्बी में बुद्ध का बिहार जो घोषिताराम बिहार के नाम से जाना जाता है, स्थित है। 4 अप्रैल 1997 से पहले कौशांबी, प्रयागराज (इलाहाबाद) के अंतर्गत आता था लेकिन वर्तमान समय में कौशांबी उत्तर प्रदेश का एक जिला है। कौशाम्बी जैन धर्म के छठवें तीर्थंकर श्री पद्मनाथ जी के जन्मस्थान एवं बुद्ध काल की प्रथम प्रसिद्ध नगरी है। यह दक्कन, गंगा नदी घाटी और उत्तर पश्चिम को जोड़े जाने वाली व्यापारिक मार्ग का प्रमुख केंद्र था। इसलिए अशोक ने अपना एक स्तंभ यहाँ स्थापित करवाया था। इसी स्तंभ पर अशोक की रानी और तीवर की माता कारुवाकी का भी एक लेख है, कौशाम्बी पुरास्थल कौशांबी की मंझनपुर तहसील के कोसम इनाम और कोसम खिराज गांव के बीच स्थित है।

कौशाम्बी पुरास्थल सर्वप्रथम सन् 1861 ईस्वी में अलेक्जैंडर कनिंघम की नजर में आया था। अपने अध्ययन एवं सर्वेक्षण के आधार पर वे इस नतीजे पर पहुंचे थे कि कोसम ही प्राचीन कौशांबी था। इस महत्वपूर्ण पुरास्थल का भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण की ओर से सन् 1936–1937 में एन0जी0 मजुमदार ने उत्खनन कार्य प्रारंभ किया था। यह उत्खनन कार्य केवल दो सत्र 1936–37 एवं 1937–38 में ही हो

पाया क्योंकि बलूचिस्तान में पुरातात्त्विक अन्वेषण के दौरान इनकी हत्या कर दी गई थी। बाद में 1949 ईसवीं से लेकर 1964–65 ईस्वीं तक यहाँ पर इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग के प्रोफेसर जी0आर0 शर्मा के नेतृत्व में उत्खनन कार्य करवाया गया था। कौशाम्बी का संपूर्ण क्षेत्र रक्षा प्राचीर से घिरा है तथा आवास क्षेत्र लगभग 6.45 किलोमीटर की परिधि में फैले हुए हैं। यह यमुना के बांए किनारे स्थित है। कौशांबी में मुख्यतः चार क्षेत्रों का उत्खनन हुआ है –

1. घोषिताराम विहार क्षेत्र
2. राजप्रसाद का क्षेत्र
3. अशोक स्तंभ क्षेत्र
4. पूर्वी प्रवेश द्वार के पास रक्षा प्राचीर

उत्खनन के परिणामस्वरूप तीन सांस्कृतिक कालों के साक्ष्य प्राप्त हुए हैं–

1. चित्रित धूसर संस्कृति (Painted Grey Ware)का
2. नॉर्दन ब्लैक पॉलिश्ड मृदभाण्ड का
3. उत्तर एन0बी0पी0डब्ल्यू का है

14.7.1 चित्रित धूसर मृदभाण्ड संस्कृति

चित्रित धूसर मृदभाण्डसंस्कृति के साक्ष्य केवल छोटे से हिस्से से प्राप्त हुए हैं। प्राप्त पात्र खंडों की संख्या भी अत्यल्प है। यहाँ का दूसरा चरण उत्तरी काली चमकीली मृदभांड संस्कृति का है इस चरण के आठ भाग प्राप्त हुए हैं, जिसमें से प्रथम पांच में भवन निर्माण कार्य में मिट्टी तथा ईंटों के प्रयोग के साक्ष्य मिले हैं। ऊपर के तीन स्तरों के भवन निर्माण में पक्की ईंटों के प्रयोग के प्रमाण उपलब्ध हुए हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि कालांतर में भवन निर्माण में पक्की ईंटों का प्रयोग होने लगा था।

14.7.2 उत्तरी काली चमकीली मृदभांड संस्कृति

उत्तरी काली चमकीली मृदभांड परंपरा काल के स्तर के उत्खनन से प्राचीन मार्गों, गलियों तथा रियायशी भवनों के विषय में जानकारी उपलब्ध हुई है। इस क्षेत्र में एन0बी0पी0डब्ल्यू पात्र परंपरा के भी लोग निवास करते थे, जो लाल रंग के मृदभांडों का प्रयोग करते थे।

14.7.3 उत्तर–उत्तरी काली चमकीली मृदभांड संस्कृति

यहाँ का तृतीय कालखंड उत्तर एन0बी0पी0डब्ल्यू संस्कृति का है। इस काल से मित्र शासकों के सिक्के प्राप्त हुए, जो कौशाम्बी की इस चरण की तिथि निर्धारण करने में सहायता प्रदान करते हैं, जिन्हे पुरालिपी एवं मुद्रा संबंधी साक्ष्यों के आधार पर द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व का माना गया है। शक–पार्थियन तकनीकी पर बनी मिट्टी की मूर्तियां तथा कुषाण सिक्के

इत्यादि तृतीय काल के ऊपरी स्तरों से मिले हैं। संभवतः इस क्षेत्र में आवास की निरंतरता गुप्त काल तक चलती रही। यहाँ के उत्खनन से न केवल मिट्टी के बर्तनों के विषय में अपितु मिट्टी की मूर्तियों, सिक्कों तथा अभिलेखों के संदर्भ में भी महत्वपूर्ण जानकारी मिली है। कौशाम्बी से प्राप्त घोषिताराम बिहार और रक्षा प्राचीर का प्राचीन भारतीय वास्तु स्थापत्य में महत्वपूर्ण स्थान है। विहार के प्रांगण में एक बहुत बड़ा वर्गाकार स्तूप था। इसका आकार 24.70X24.70 मीटर का था। इसके अतिरिक्त एक अंडाकार स्तूप तथा तीन छोटे स्तूपों के अवशेष भी प्राप्त हुए हैं। यहाँ से पुरुषमेघ यज्ञ की बेदी की भी प्राप्ति हुई है, जिसको श्येनचिति कहा जाता था। इसके अलावा यहाँ से एक बड़े आकार के भवन की भी प्राप्ति हुई है, जिसके राजप्रसाद होने की संभावना व्यक्त की गई है। ऐसा कहा

जाता है कि 1025 ईसा पूर्व के काल से ही काफी मजबूत सुरक्षा प्राचीरों का निर्माण हो चुका था लेकिन अन्य स्रोतों के आधार पर इसका काल 600 बी0सी0 से पहले नहीं आंका जा सकता।मौर्य साम्राज्य से पहले की अवधि के दौरान, कौशाम्बी वत्स के स्वतंत्र राज्य की राजधानी थी,जो 16 महाजनपदों में से एक था । कौशाम्बी गौतम बुद्ध के समय तक एक बहुत ही समृद्ध शहर था, जहां बहुत से धनी व्यापारियों का निवास था। यह उत्तर–पश्चिम और दक्षिण की ओर से सामानों और यात्रियों के आने–जाने के संगम पर थी। यह बुद्ध के जीवन के सम्बंध में भी बहुत महत्वपूर्ण है।

इसकी सामरिक भौगोलिक स्थिति ने एक महत्वपूर्ण व्यापार केंद्र के रूप में उभरने में मदद की। कौशाम्बी के ऐतिहासिक महत्त्व एवं धरातलीय उपलब्धियों के आधार पर यहाँ उत्खनन कार्य कनिंघम जैसे पुरातत्त्ववेत्ताओं ने बहुत पहले ही आरम्भ किया था किन्तु उन्हें कोई सफलता न प्राप्त हुई। उसके उत्खनन का पूर्ण श्रेय प्रो० गोबर्द्धन राय शर्मा को है जिन्होंने वैज्ञानिक विधि से इस स्थल का उत्खनन करवाया। प्रो० शर्मा को यहाँ तीन महत्त्वपूर्ण अवशेष प्राप्त हुए हैं–

(1) घोषिताराम बिहार (2) राज प्रासाद (3) सुरक्षा प्राचीर

14.7.4 घोषिताराम बिहार

कौशाम्बी से उपलब्ध अतीत के अवशेषों में घोषिताराम बिहार इसके प्राचीनतम बौद्ध स्थल होने को प्रमाणित करता है। ह्वेनसांग के विवरण के अनुसार अशोक ने कौशाम्बी में एक स्तूप का निर्माण कराया था। इसके पूर्व छठीं शताब्दी ईसा पूर्व में जब बौद्ध बिहारों की निर्माण प्रक्रिया प्रारम्भ हुई तो कौशाम्बी ने भी बौद्ध भिक्षुओं का ध्यान आकृष्ट किया होगा। इस बिहार के प्राचीनतम स्तरों से उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड प्राप्त हुए हैं, जिससे यह बिहार छठीं शताब्दी ईषा पूर्व का माना गया है। ह्वेनसांग द्वारा इसके उल्लेख से यह कहा जा सकता है कि घोषिताराम बिहार में छठीं शताब्दी ईसा पूर्व से छठीं शताब्दी ईसा तक निरन्तर परिवर्तन एवं परिवर्द्धन होता रहा। इस अन्तराल में इस बिहार में 16 निर्माण कालों की सूचना प्राप्त होती है। पूर्णरूप में यह बिहार वर्गाकार है, जिसके चतुर्दिक भिक्षुओं के

निवासार्थ लघुकक्ष बने थे। अन्दर एक कक्ष में मुख्य स्तूप निर्मित था। इसके अतिरिक्त यहाँ अन्य स्तूपों के भी अवशेष प्राप्त हुए हैं। मुख्य स्तूप का निर्माण काल प्रो० शर्मा ने पांचवीं शताब्दी ईसा पूर्व माना है। बिहार एक चहारदीवारी से घिरा है।

बिहार के प्रथम निर्माणकालों के विषय में कोई जानकारी नहीं प्राप्त होती क्योंकि ये अंश पूर्णतः विनष्ट हैं। छठे निर्माण काल में घोषिताराम बिहार का पूर्ण स्वरूप निर्धारित हो चुका था। इसकाल की दीवारें एक फीट लम्बी ईंटों से बनी हैं। अष्टम काल में बिहार के चारों ओर कक्ष तथा अन्तः भाग में बरामदें का निर्माण किया गया है। नवें काल में बिहार की दीवारों पर पलस्तर किया गया तथा उसे अलंकृत करने का प्रयास किया गया है। 11 वें काल में बिहार का अधिकतम विस्तार हुआ। इस समय यहाँ मघ शासक शासन कर रहे थे क्योंकि कुछ पात्रों में भद्रमघ के नाम प्राप्त होते हैं। त्रयोदश निर्माण काल में बिहार को चारों तरफ दीवारों से आवृत्त किया गया जो सुरक्षात्मक दृष्टिकोण से प्रतीत होता है। उत्तर–पूर्व एवं दक्षिण–पूर्व एवं दक्षिण–पश्चिम के कोनों पर 40 फीट लम्बे एवं 36 फीट चौड़े स्तूपों का भी निर्माण किया गया। उन स्तूपों के दोनों ओर दो समानान्तर दीवारें बनाई गई। जिनके मध्य 79 फीट की दूरी है। इस प्रकार घोषिताराम बिहार में वृद्धि की अन्तिम सीमा प्राप्त हुई।

तदुपरान्त ह्रास का युग प्रारम्भ हुआ । 16 वें चरण में हूण नरेश तोरमाण ने कौशाम्बी को आक्रान्त कर बिहार को ही पूर्णतः विनष्ट कर दिया।

14.7.5 राज प्रासाद

कौशाम्बी के उत्खनन से यमुना तट पर प्रो० शर्मा को एक विशाल राज प्रासाद के अवशेष उपलब्ध हुए हैं, जो पाषाण खण्डों से बनाया गया है। इस राजप्रासाद को तीन चरणों में पूर्ण किया गया है किन्तु उनकी शैली एवं योजना में कोई भिन्नता नहीं हैं। प्रथम चरण में विना तराशे गये अनगढ़ पाषाण खण्डों को जोड़ कर दीवारों का निर्माण किया गया है। इन खण्डों को जोड़ने के लिए मसाले के रूप में चूने का प्रयोग किया गया है।

संभवतः इसी चरण में ही इन दीवारों पर पलस्तर भी किया गया होगा। द्वितीय चरण में राजप्रासाद के सौन्दर्य पर बल दिया गया है। दीवार के बाह्य भाग को सुन्दर ढंग से गढ़े हुए पाषाण खण्डों से अलंकृत किया गया है। आवश्यकतानुसार पाषाण खण्डों के मध्य पक्की ईंटों का भी प्रयोग है। राजप्रासाद के कोणों पर बुर्ज या अहालक बनाए गये हैं, जिनके निमार्ण में अधः भाग में पाषाण तथा ऊर्ध्व भाग में ईंटों का प्रयोग किया गया है। दीवार को चतुर्दिक चूने के मोटे पलस्तर से चमत्कृत किया गया है। इस चरण के निचले स्तरों से उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड प्राप्त हुए हैं। इस युग की सबसे ऊपर के स्तर से एक मुद्रा प्राप्त हुई है, जिस पर द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व की ब्राह्मी लिपि में "महाराजस्य संघों .. .'' लेख अंकित है।

राजप्रासाद के तृतीय चरण में स्तरों से उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड लुप्त होने लगते हैं। तदुपरान्त ऊपरी स्तरों में रक्तवर्ण के भाण्डों के ठीकरे उपलब्ध होते हैं जो ईस्वी सन् की प्रारम्भिक शताब्दी के प्रतीत होते हैं। प्रो० शर्मा ने इसे वत्सराज्य उदयन का राजमहल बतलाया है, जो मित्र शासकों के पश्चात् खण्डहरों के रूप में परिवर्तित हो गया।

14.7.6 सुरक्षा प्राचीर

प्राचीन राजधानियाँ भी दुर्ग के नाम से सम्बोधित की जाती थीं क्योंकि दुर्ग की भांति इनकी सुरक्षा के लिए भी विशाल एवं विस्तृत प्राचीरें (दीवारें) बनाई जाती थीं । वत्स राज्य की राजधानी कौशाम्बी को भी दुर्गीकृत किया गया था। इसकी सुरक्षा प्राचीर के निर्माण में सर्वप्रथम 300 फीट ऊँचे बंधे का निर्माण किया गया है, जिसके चारों ओर पक्की ईंटों से चुनाई की गई है। यह दीवार ऊपर से नीचे की ओर ढलुआ है तथा इसके तोरण भी प्राप्त हुए हैं। ईंटों की जुड़ाई English Bond system से की गई है। जुड़ाई की यही विधि हड़प्पा की सुरक्षा प्राचीर में भी प्रयुक्त है। इस समानता के आधार पर प्रो० शर्मा ने हड़प्पा की संस्कृति को कौशाम्बी तक विस्तृत माना है। प्रो० शर्मा के अनुसार इस सुरक्षा प्राचीर को देखते ही हड़प्पा की प्राचीर का स्मरण होता है। बुर्ज हड़प्पा संस्कृति से

पूर्णतः प्रभावित हैं। इसीलिए प्रो० शर्मा सुरक्षा प्राचीर का निर्माण काल छठीं शताब्दी ईसा पूर्व से पहले स्वीकार करते हैं। किन्तु सर मोर्टिमर व्हीलर ने प्रो० शर्मा के मत में सन्देह व्यक्त करते हुए यह बतलाया है कि सुरक्षा प्राचीर के निर्माण की यह एक लोकप्रिय विधि थी जिसका प्रयोग अधिकांश सुरक्षा प्राचीरों के निर्माण में किया गया है।

14.8 राजघाट

राजघाट, उत्तर प्रदेश के वाराणसी जिले में स्थित है। वर्तमान समय में नमोघाट की वजह से अधिक चर्चा में है, इसकी प्राचीनता और उसका सतत् इतिहास 1940 ई. तक निश्चित नहीं था। इसकी प्राचीन स्थिति वर्तमान काशी स्टेशन के उत्तर–पूर्व में गंगा और वरुणा के मध्य थी, जिसे राजघाट टीले के नाम से जाना जाता है। इसकी आकस्मिक खोज 1939 ई. में वर्तमान काशी स्टेशन के विस्तार के समय रेलवे ठीकेदारों द्वारा खुदाई कराते समय हुई। खुदाई में इन ठेकेदारों को बहुत–सी प्राचीन वस्तुएँ मिलीं जिनमें मिट्टी की मुहरें एवं मुद्रायें भी थीं। इन वस्तुओं को अब भारत कला भवन और इलाहाबाद संग्रहालय (म्यूनिसिपल म्यूजियम) में रखा गया है। इन मुद्राओं में मुख्यतः यूनानी देवी–देवताओं की आकृतियाँ तथा कुछ यूनानी राजाओं के सिर का अंकन है।

यहाँ से मिली वस्तुओं से आकृष्ट होकर श्री कृष्णदेव के नेतृत्व में भारतीय पुरातत्त्व विभाग के एक दल ने यहाँ उत्खनन प्रारंभ किया। इस दल ने ऊपरी जमाव से 20 फुट नीचे तक खुदाई की।

उत्खनन के परिणामस्वरूप 12 खंभों से युक्त एक मंदिर तथा ईंटों की कुछ अन्य संरचनाएँ, उत्तरी काली चमकीले मृण्भांड के टुकड़े तथा कुछ अन्य वस्तुएँ मिलीं। इसके अतिरिक्त उत्खनन में चौथे स्तर (दूसरी–तीसरी शताब्दी ई.) से अनेक यूनानी देवी–देवताओं की आकृतियों से युक्त मुद्राएँ भी मिली हैं। यहाँ बड़ी मात्रा में मुद्राओं के मिलने के कारण श्री कृष्णदेव इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि ये मुद्राएँ वाराणसी व पश्चिमी देशों (यूनान एवं रोम) के बीच व्यापारिक संबंध की द्योतक हैं। परंतु मोतीचंद्र वाराणसी और पश्चिम के देशों (यूनानी एवं रोम) के बीच व्यापारिक संबंध होने की बात को अस्वीकार

करते हैं। उनका कहना है कि उस समय पश्चिम देशों से व्यापार मुख्यतः जलमार्ग से ही होता था, जो कि अरब सागर व बंगाल की खाड़ी के बंदरगाहों तक ही सीमित था और वहाँ से भारतीय व्यापारियों द्वारा यह सामान देश के अन्य भागों में पहुँचाया जाता था, जबकि स्थलमार्ग से इन विदेशी व्यापारियों के मध्य देश तक पहुँचने के भी प्रमाण नहीं मिलते। यदि इन व्यापारियों का व्यापारिक संबंध मध्य देश से मान भी लिया जाय तो इसका प्रमाण मध्यदेश के अन्य व्यापारिक नगरों (कौशांबी, सहजाति (आधुनिक 'भीटा') और श्रीवस्ती में क्यों नहीं मिलता? यह एक विचारणीय प्रश्न है। अतः यह तो निश्चित है कि ये मुद्राएँ व्यापारिक उद्देश्य से यहाँ नहीं आईं। बल्कि यह संभावना है कि ये मुद्राएँ हिंद–यवन शासक ड्रेमेट्रियस या मिलिंद (मिनांडर) के पाटलिपुत्र विजय अभियान के दौरान बनारस में पड़ाव के समय छूट गई हों।

यह प्राचीन स्थल चारों ओर से सुरक्षित था। दक्षिण–पूर्व की ओर से गंगा, उत्तर और उत्तर–पूर्व में वरुणा नदी तथा पश्चिम तथा उत्तर–पश्चिम की ओर से यह एक परिखा द्वारा परिवेष्टित था। ग्रीब और शेरिंग ने भी प्राचीन वाराणसी की स्थिति नगर के उत्तर में वरुणा और गंगा के मिलन–बिंदु पर मानी है। अतः यह तो निश्चित है कि यह स्थल वाराणसी की प्राचीनतम बस्ती होने की ओर संकेत करता है। 1940 के उत्खनन में यहां से प्राप्त एक गुप्तकालीन मुहर पर उल्लेखित लेख 'वाराणस्याधिष्ठानिधकरणस्य' से भी इसका समर्थन होता है।

इस क्षेत्र का सर्वप्रथम वैज्ञानिक उत्खनन काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रो. अवध किशोर नारायण ने 1957 में प्रारंभ किया। इस कार्य का पुनः आरंभ 1960–61 और बाद के वर्षों में भी चलता रहा। उत्खनन से निम्नलिखित् चरणों के साक्ष्य प्रकाश में आए हैं–

14.8.1 प्रथम काल

राजघाट की खुदाई से प्राप्त अवशेषों से यह सिद्ध होता है कि मानव ने सर्वप्रथम 8वीं शती ई.पू. के आस–पास इस दलदल वाले क्षेत्र को साफ करके निवास प्रारंभ किया। उस समय यहाँ के निवासियों

का मुख्य पेशा कृषि था। यहाँ के निवासी मिट्टी के मकानों एवं घास–फूस की झोपड़ियों में रहते थे। सीमित उत्खनन के कारण इस काल के आवासीय भवनों के बारे में विस्तृत जानकारी नहीं मिल सकी, परंतु ऐसा आभास होता है कि इस काल में यह क्षेत्र नगरीकरण की प्रक्रिया से बिल्कुल अनभिज्ञ रहा होगा। इस काल के तीन चरण दृष्टिगत होते हैं–

प्रथम चरण के निचले स्तरों की सीमित खुदाई से आवासीय भवनों एव स्मारकों के अवशेष नहीं मिले हैं। यहाँ से प्राप्त वस्तुओं में लोहे के उपकरण, अस्थिनिर्मित औजार, बड़ी संख्या में मृण्मूर्तियाँ, मिट्टी की तश्तरियाँ तथा आभूषण आदि मिले हैं। द्वितीय चरण से सरकण्डे (नरकुल) के टुकड़े तथा कमरों के फर्शों के उत्खनित अंश प्रकाश में आए हैं। इस चरण से एक ऐसा साक्ष्य मिला है, जिसे बाद के उत्खननों में तटबंध से समीकृत किया गया है। संभवतः गंगा की बाढ़ से नगर की रक्षा के लिए उक्त तटबंध का निर्माण किया गया था। नगरीकरण के प्रारंभ में तटबंध के निर्माण का यह प्रथम प्रयास था। इस चरण से किसी प्रकार की संरचना के अवशेष नहीं मिले है। फिर भी फर्श के उत्खनित अंश के मिलने से इस काल में भवनों के होने की पुष्टि होती है। इसके अतिरिक्त लाल एवं भूरे रंग की मृण्मूर्तियाँ भी मिली हैं, जिनमें हाथी और साँड़ की आकृतियाँ मुख्य है। इस चरण की समाप्ति तीसरी–चौथी शती ई.पू. के लगभग हुई। इस काल के तृतीय चरण में कच्ची मिट्टी की दीवाल तथा कच्चे फर्श के अवशेष मिले हैं। इसके अतिरिक्त कुछ मृण्मूर्तियाँ, ताँबे के सिक्के तथा मृतिका वलय कूप भी मिले हैं।

14.8.2 द्वितीय काल

द्वितीय काल का प्रारंभ तीसरी शती ई. पू. से प्रारंभ होता है। यह युग वाराणसी के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। नगरीय सभ्यता के इतिहास में विकास का यह प्रथम काल था। इस काल में कृष्ण–लेपित पात्र, कृष्ण–लोहित पात्र एवं उत्तरी काले चमकीले मृण्भाण्डों का प्रयोग बहुतायत में मिलता है, जो इस काल के आर्थिक और तकनीकी विकास के स्पष्ट प्रमाण है। इस काल की सबसे

महत्त्वपूर्ण उपलब्धि भवनों के निर्माण में पकी ईंटों का प्रयोग था। यदा–कदा मकानों में कच्ची ईंटों का प्रयोग भी मिलता है। भवनों में पकी ईंटों के प्रयोग से जहाँ एक ओर इनकी तकनीकी प्रगति की जानकारी मिलती है, वहीं दूसरी ओर जनता की सुख–समृद्धि का भी ज्ञान होता है। भवनों की नींव में कंकड़ पत्थर एवं ईंटों के टुकड़ों को डाला जाता था। उत्खनन से एक स्थान पर कंकड़–पत्थर से युक्त कंकरीट की नींव भी मिली है।

भवनों की छत के निर्माण में खपरैल (रुफटाइल्स) का प्रयोग मिलता है। इनको लोहे के कीलों से बाँधा जाता था। दीवालों में स्तंभ–गर्त (पोस्ट–होल्स) के अवशेष भी मिले हैं, जिससे यह सिद्ध होता है कि छत को टिकाने के लिए लकड़ी या बाँस के खंभों का प्रयोग किया जाता था। मकान एक सीध में बनाए जाते थे और दो मकानों के मध्य कुछ स्थान छोड़ दिया जाता था। स्पष्टतः शुद्ध वायु और नगर की स्वच्छता के लिए ही ऐसा किया जाता था। इन मकानों के मध्य गोलाकार कुएँ भी मिलें हैं। कभी–कभी ये कुएँ मकानों के अंदर भी स्थित होते थे। पूर्ण खुदाई के अभाव में कुछ निश्चित कहना कठिन है लेकिन कमरे के अंदर ऐसे कुओं के मिलने से ऐसा प्रतीत होता है कि इनका उपयोग शौच आदि के लिए किया जाता रहा होगा। उत्खनन से पता चलता है कि प्रारम्भ में कमरों का औसत आकार 2.56 मीटर X 2.26 तथा बाद में 1.90 मीटर X 2.92 मीटर था। प्रत्येक परिवार के रहने के लिए दो कमरे थे। इन कमरों में दो दरवाजे, एक दालान (प्रकोष्ठ), एक कुआँ, स्नानार्थ चबूतरा तथा नाली सम्मिलित थी। यहाँ से सोख्ता घड़े और मृतिकावलय कूप के भी अवशेष मिले हैं। इसके अतिरिक्त पकी ईंटों से निर्मित एक नाली के अवशेष भी मिले हैं। यह नाली उत्तर से दक्षिण 2.75 मीटर लंबाई में विस्तृत थी, जो बड़े आकार की ईंटों से आवृत थी।

सफाई की सुविधा के लिए नाली में लंबवत् ईंटों का प्रयोग मिलता है। इस काल में कच्ची ईंटों का प्रयोग भी मिलता है। उत्खनन से चार रद्दों वाले एक भवन का भी पता चला है। इस भवन में प्रयुक्त ईंटों 39X30X7 सेंटीमीटर आकार की है। पकी ईंटों की माप दो वर्गों में दृष्टिगत होती है। एक

वर्ग में प्रयुक्त ईंटों 50X31X5 सेंटीमीटर आकार की है तथा दूसरे वर्ग में 48X28X5 सेंटीमीटर आकार की है। इस काल का अंत ईसवी सन् के प्रारंभ में हुआ होगा।

14.8.3 तृतीय काल

इस काल का प्रारंभ ईसवी शती से लेकर तीसरी शताब्दी ई. के मध्य माना जाता है। आवासीय संरचना की दृष्टि से यह काल सर्वाधिक समृद्ध था। इस काल के सभी भवन पकी ईंटों से निर्मित हैं। इनमें प्रयुक्त ईंटें मुख्यतः दो आकार की हैं–इस प्रकार की ईंटें जिनकी माप 40X25X5 सेंटीमीटर है तथा दूसरे प्रकार की ईंटें 39X29X5 सेंटीमीटर माप की है। इस काल की उत्खनित संरचना को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से उत्खननकर्ताओं ने तीन संरचनात्मक अवस्थाओं में विभक्त किया है।

संरचनात्मक अवस्था एक में ऐसे भवनों की नींव मिलती है, जिनमें कमरे का आकार 4X4.21 मीटर लंबा है और एक–दूसरे को पूर्व के छोर पर काटते हैं। इसकी नींव की मोटाई 20 सेंटीमीटर चौड़ी थी। इसके साथ दो मुड़ी हुई दीवालें भी थीं। इस संरचना से बड़े आकार के कमरे का पता चलता है, जिसका एक पार्श्व 6.06 मीटर लंबा था। यहीं से ईंटों के प्लेटफार्मयुक्त एक कुआँ भी मिला था। फर्श के कोने में वृत्ताकार धँसा हुआ एक स्थान था। संभवतः यहाँ सोख्ता घड़े (सोकेज जार्स) या कोई उपकरण रखा गया होगा।

संरचनात्मक अवस्था 3 में कंकरीट की एक 24 सेंटीमीटर मोटी फर्श और कुछ दीवालों के अवशेष मिलें हैं इसमें एक दीवाल 2.27 मीटर थी, जिसमें प्रयुक्त ईटों की 11 परतें हैं। इसके अतिरुक्त कई अन्य दीवालों के अवशेषों का भी पता चला है, लेकिन भग्नावस्था में होने के कारण इनसे किसी निश्चित योजना की जानकारी नहीं हो पाती। भवनों की निर्माण योजना से यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि उनकी रचना दिशाओं को ध्यान में रखकर की जाती थी।

इस काल के उत्खनन से प्राप्त सभी मृदभांड लाल रंग के हैं। जबकि द्वितीय काल में इस प्रकार के मृदभांडों का प्रयोग अपेक्षाकृत कम मिलता है, जबकि इस काल में इनका प्रयोग आकार और पकाने की नई प्रक्रिया के रूप में दृष्टिगत होता है। अन्य महत्त्वपूर्ण वस्तुओं में सिक्कों एवं मुहरों का प्रयोग मुख्य है। यहाँ से 400 मुहरें एवं राजमुद्रांक (सीलिंग्स) परिष्कृत एवं अपरिष्कृत रूप में मिली हैं। उल्लेख्य है कि इसी प्रकार के राज्यमुद्रांक (सीलिंग्स) अगियाबीर से भी मिली हैं। पुरालिपि संबंधी चिह्नों से ये मुहरें पहली शताब्दी और तीसरी शताब्दी के मध्य की प्रतीत होती हैं। इस काल में पहली बार डाईस्ट्रक सिक्कों का प्रयोग मिलता है। यहाँ से कौशांबी और अयोध्या के दो सिक्के भी मिले हैं, जिन पर लेख क्रमशः 'नवस' और 'शिवदत्तस' अंकित हैं। इस काल से बड़ी संख्या में मुहरों एवं राजमुद्रांकों का मिलना तथा समर्थनस्वरूप सिक्कों का प्राप्त होना, इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण् है कि इस काल में व्यापार और वाणिज्य के क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति हुई।

14.8.4 चतुर्थ काल

यह काल 300 से 700 ई. के बीच विकसित था। इस काल के निर्मित भवन पूर्व–युग के भवनों से भिन्न थे। इस काल के सभी अवशेष गुप्तयुगीन हैं। इस काल के मकान सभी सुविधाओं से युक्त थे। इन मकानों में स्नानगृह, पाकशाला एवं भंडारकक्ष इत्यादि मिलते हैं। इस काल की प्राप्त वस्तुओं में दो कुंड, बर्तन रखने के मर्तबान, एक कंकरीट की जाली मुख्य हैं। कमरों में प्रयुक्त इटें 41.5X26.5X5 सेंटीमीटर आकार की हैं।

उपर्युक्त तथ्यों के विवेचन से यह स्पष्ट है कि विभिन्न युगों में भवन–निर्माण की प्रक्रिया में पर्याप्त अंतर मिलता है। निर्माण की प्रथम प्रक्रिया के पश्चात् उत्तरोत्तर परिवर्द्धन का क्रम परिलक्षित होता है। सर्वप्रथम 8वीं शती ईसवी पूर्व में मानव मुख्यतः कच्ची मिट्टी के मकानों एवं झोपड़ियों में निवास करता था। परंतु नगरीकरण की प्रक्रिया के प्रांरभ के फलस्वरूप दूसरी–तीसरी सदी ई.पू. में भवनों के निर्माण में पकी ईंटों का प्रयोग होने लगा। इस काल में कच्ची ईंटों का प्रयोग भी मिलता है। लोगों को लोहे

का ज्ञान हो चुका था, इसलिए भवनों में लोहे की कीलों का उपयोग आवश्यकतानुसार होने लगा। ईसवी सन् के प्रारंभ से तीसरी शताब्दी तक इन भवनों में पकी ईंटों का प्रयोग बहुलता से मिलता है।

इस काल के कमरे पूर्ववर्ती कमरों से बड़ें होते थे। भवनों की नींव कंकरीट एवं ईंटों के टुकड़ों से भरी जाती थी। तीसरी शताब्दी से सातवीं शताब्दी के भवनों में भी पकी ईंटों का प्रयोग मिलता है।

14.9 सारांश

उपर्युक्त सभी पुरास्थलों का प्राचीन भारत की गौरव गाथा को स्थापित करने में महत्वपूर्ण स्थान है। ये सभी पुरास्थल भारत के विभिन्न क्षेत्रों के इतिहास को प्रदर्शित करते हैं। इन पुरास्थलों के उत्खनन से समय–समय पर आए बदलावों की झलक सांस्कृतिक अनुक्रमों से संबंधित स्तरों में दिखाई देती है। इनसे प्राप्त साक्ष्य मानव के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं विभिन्न सांस्कृतिक पक्षों को उद्घाटित करते हैं एवं तत्कालीन समय में भारत का अन्य देशों के साथ होने वाले व्यापारिक संबंधों एवं उद्योगों की झलक को भी प्रस्तुत करते हैं। अतः कह सकते हैं कि उक्त पुरातात्त्विक तकनीक और सिद्धांतों का प्रयोग करते हुए भारत के विभिन्न क्षेत्रों से प्राप्त पुरास्थलों के अध्ययन से प्राचीन भारतीय गौरव एवं विरासत को स्थापित किया जा सका है।

14.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. अग्रवाल, डी0पी0 .1984. *द आर्कियोलॉजी ऑफ इण्डिया.* सेलेक्ट बुक सर्विस सिन्डीकेटः नई दिल्ली।
2. जैन, वी0के0 .2006. *प्रीहिस्ट्री एण्ड प्रोटोहिस्ट्री ऑफ इण्डियाः एन अप्रेजल.* डी0के0 प्रिन्टवर्ल्डः न्यू दिल्ली।
3. पाण्डेय, जे0एन0 2008. *पुरातत्त्व विमर्श.* प्राच्य विद्या संस्थानः इलाहाबाद।
4. भट्टाचार्य, डी0के0 2007. *भारतीय प्रागैतिहास की रूपरेखा.* पलका प्रकाशनः दिल्ली।
5. गोयल, श्रीराम. 2008. *प्रागैतिहासिक मानव और संस्कृतियाँ.* विश्वविद्यालय प्रकाशनः वाराणसी।

6. शर्मा, जी0आर0 1985. *भारतीय संस्कृतिः पुरातात्विक आधार, नई दिल्ली* : नेशनल पब्लिशिंग हाउस।

7. जायसवाल, विदुला. 1989. *भारतीय इतिहास का मध्य–प्रस्तर युग.* स्वाती प्रकाशनः दिल्ली।

8. दुबे, अनिल कुमार .2005. *मध्यगंगा घाटी में अधिवास प्रक्रिया* (जौनपुर जनपद के विशेष सन्दर्भ में) इलाहाबादः स्वाभा प्रकाशन।

9. मिश्रा, वी0डी0 1997. *सम ऑसपेक्ट्स ऑफ इण्डियन आर्कियोलाजी.* प्रभात प्रकाशनः इलाहाबाद।

10. सर मॉर्टिमर व्हीलर, 'पृथ्वी से पुरातत्त्व' हिन्दी माध्यम निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय।
11. एच0 डी0 सांकलिया, पुरातत्त्व परिचय', डेक्कन कालेज, पूना।
12. के0 राजन, 'आर्कियोलॉजीः प्रिंसिपल एण्ड मेथड्स,' मनू पाथ्पिक्कम, तंजौर।
13. आर0 के0 वर्मा, 'क्षेत्रीय पुरातत्त्व' इलाहाबाद
14. वी0 के0 पाण्डेय, 'पुरातत्त्व मीमांसा', शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद।

14.11 बोध प्रश्न

- अतरंजीखेड़ा पुरास्थल के पुरातात्त्विक महत्व की विवेचना कीजिए।
- अहिच्छत्र पुरास्थल के पुरातात्त्विक महत्व पर प्रकाश डालिए।
- राजघाट पुरास्थल के ऐतिहासिक महत्व का वर्णन कीजिए।
- अरिकामेडु पुरास्थल की महत्ता पर निबन्ध लिखिए।
- कौशाम्बी के इतिहास की विवेचना कीजिए।